

ॐ

परमात्मने नमः

जिणसासणं सव्वं

संपादक
शशीकांत म. शेट
भावनगर

प्रकाशक
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,
भावनगर-३६४००१

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
५८०, जूनी माणेकवाडी,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २४२३२०७

प्रथमावृत्ति : प्रत : ५०००
द्वितीयावृत्ति : प्रत : ५००

पृष्ठ संख्या : २०+१४०=१६०
मूल्य :

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेसन्स
१०७५/ए, मातृछाया-४,
आंबावाडी, भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २२०३४७०

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा, अहमदाबाद
फोन : २१७३४९२/२१६७६०३

प्रकाशकीय

शुद्धोपयोग संपन्न ज्ञानी धर्मात्मा ही "समस्त जिनशासन" हैं, ऐसा निर्देश 'श्री समयसार' गाथा १५ में मिलता है। इस विषय की कुछ स्पष्टता ग्रंथ की 'प्रस्तावना' में निर्दिष्ट है।

साथ ही उक्त प्रस्तावना में श्री वीर शासन के विगत २५१६ वर्षों के इतिहास को भी समावेश किया गया है। उसमें सद्धर्म-तीर्थविरुद्ध जो जो प्रमुख कालिमामयी घटनाएँ घटित हुई हैं उनका भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है एवं उनके कारणों की यथोचित मीमांसा भी की गई है। जिसका उद्देश्य इतना ही है कि उन घटनाओं से अपने को यही बोध अवधारणीय है कि किसी भी मूल्य पर वैसी घटनाओं व प्रवृत्तियों का पुनरावर्तन न हो, तद्रूप जागृति निरंतर कर्तव्य है। वस्तुतः जितनी भी अनुचित घटनाएँ घटती हैं उनके मूल में विद्यमान ज्ञानी धर्मात्मा के प्रति उपेक्षितवृत्ति ही मुख्य रहती है; और ऐसी स्वच्छंद वृत्ति में अनंत दूषणों की सर्जन-क्षमता गर्भित होती है। यह एक महत्त्व का तथ्य है जो अंतर गवेषणीय है।

अतएव इस संदर्भ में ज्ञानी धर्मात्मा की बाह्याभ्यंतर दशा का स्वरूप सर्वांगीणरूप से समझना भी अति आवश्यक है। नहीं तो, जिनमें भाव जिनशासन विद्यमान नहीं हो उन्हें ज्ञानी मान लेने से अथवा जिन में वह प्रगट हो उन्हें ज्ञानी न मानने से या फिर उनकी उपेक्षा हो जानेपर अनंत ज्ञानियों की कृत-कारित या अनुमोदनाजन्य विराधनारूप महा दोष हो जाना संभवित है। इसीलिए उसके निवारणार्थ प्रस्तुत ग्रंथ में मोक्षमार्ग में विचरते धर्मात्मा - सम्यग्दृष्टियों व मुनिराजों की पवित्र बाह्याभ्यंतरदशा के विभिन्न पहलुओं को दर्शाने का प्रयास किया गया है। और तदनुकूल ही इस ग्रंथ का शीर्षक "जिणसासनं सव्वं" रखा गया है।

तदर्थ, स्वानुभव विभूषित परम श्रद्धेय अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी; एवम् वर्तमान में मुमुक्षुओं के लिए कल्पवृक्षतुल्य प्रत्यक्ष उपकारी प्रसिद्ध धर्मात्मा प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन; आत्मार्थ सद्बोधदाता सत्पुरुष पूज्य श्रीमद् राजचंद्रजी; तथा समीप मुक्तिगामी दृष्टि के धनी पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के तद्विषयक उपकारभूत वचनों को प्रस्तुत संकलन में प्रकाशित किया गया है।

आशा है, प्रस्तुत संकलन जिज्ञासुओं को भाव-द्रव्य जिनशासनस्वरूप मोक्षमार्ग में विचरते ज्ञानी धर्मात्माओं की समीचीन व निर्दोष बाह्याभ्यंतरदशा के संबंध में एवं मोक्षमार्ग में प्रकट - जीवंत अध्यात्मतत्त्व की सम्यक् जानकारी एवं पहचान कराने में सहायक सिद्ध होगा; जिससे वैसी पवित्र दशा में वर्तते धर्मात्माओं के प्रति उनके हृदय में सहज परम विनय-भक्ति के भाव उल्लसित होंगे; और साथ ही उनमें तद्रूप पवित्रदशा प्राप्ति की तीव्र भावना स्फुरित होगी।

ट्रस्ट की नीति अनुसार इस ग्रंथ का मूल्य लागत से लगभग २५% कम रखा गया है। और उस हेतु प्राप्त दानराशि का साभार विवरण अन्यत्र प्रकाशित है।

इस ग्रंथ के सुंदर मुद्रण कार्य में श्री पूजा इम्प्रेससन का सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उनका आभार स्वीकार करते हैं।

- ❁ सद्धर्मतीर्थ जयवंत वर्तो.....
- ❁ समस्त जिनशासन जयवंत वर्तो...जयवंत वर्तो.

ट्रस्टीगण

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

प्रस्तावना

देवाधिदेव वीतराग सर्वज्ञ चरम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमानस्वामी को निर्वाण पधारे लगभग २५१६ वर्ष हो गये। इनका धर्मतीर्थ प्रवर्तमान है। वर्तमान कलिकाल सद्धर्मतीर्थ के लिए उतरता हुआ काल है।

श्री वीरप्रभु के निर्वाणोपरांत ६२ वें वर्ष में अंतिम केवली श्री जंबूस्वामी के निर्वाण बाद केवलज्ञान परंपरा का व्यवच्छेद हो गया। तदुपरांत १०० वर्षों में श्री विष्णुनंदि - श्री भद्रबाहुस्वामी आदि पाँच श्रुतकेवली भगवंतों की विद्यमानता से श्री वीरशासन अक्षुण्ण बना रहा।

तत्पश्चात् ४०३ वर्षों में श्री विशाखाचार्य - श्री नक्षत्र - श्री विनयदत्त - श्री अर्हदत्त आदि अंगधारी आचार्यभगवंतों की, एवं तदुपरांत ११८ वर्षों में श्री अर्हद्वली - श्री भूतबलि आदि अंशधारी आचार्यदेवों की विद्यमानता रही; जिससे श्री वीरशासन परंपरागतरूप में जीवंत रहा।

तथापि उक्त ५२१ वर्षों की अवधि में हुण्डावसर्पिणी काल भी अपना करालरूप यत्र-तत्र दिखलाता रहा; जिससे श्री वीरशासन को अनेक विकट स्थितियों से निबटना पड़ा। फिर भी, धन्य हैं ! वे महान धर्म-स्तंभवत् तत्कालीन आचार्य भगवंत ! कि जिन्होंने अनेक विषमताओं के बीच अविकल - अचल - अजेय रहकर, अपनी बाह्याभ्यंतर पवित्र साधान-बल से सद्धर्मतीर्थ को यथावत् जीवंत रखा।

यहाँ तत्कालीन वृत्त आज के परिप्रेक्ष्य में भी शिक्षाप्रद लगने से उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा :-

❁ जब उत्तर भारत में १२ वर्षीय दुर्भिक्ष की संभावना देख, *अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी के नेतृत्व में सभी आचार्यगण

* इस विषय में इतिहासविदों में मतैक्यता नहीं है।

अपने संघों के साथ दक्षिण भारत की ओर विहार कर गये। फिर भी श्री रामल्य, श्री स्थूलभद्र व श्री स्थूलाचार्य नामक आचार्यों ने श्रीगुरु के निर्देश की अवज्ञा की, और विहार नहीं किया। दुर्भिक्ष पड़ा; इन लोगों ने सिंहवृत्ति त्याग कर, परिस्थितियों के आगे घुटने टेक दिए और शिथिलाचारी हो गये। दीनवृत्तिवश वे लोग पात्र लेकर भोजन माँगने के लिए वसतिका में फिरने लगे। और अपनी नग्नता को उतने समय छिपाने हेतु अपने साथ वल्कल-वस्त्र का टुकड़ा भी रखने लगे, जिसे वे नगर-वसतिका में जाते समय अपने आगे ढँक लेते और लौटने पर पृथक् करके फिर से नग्न हो जाते थे। अपने में पल्लवित दर्शनभ्रष्टताजन्य शिथिलाचारिता, अनुशासनहीनता व सुविधाभोगीवृत्ति के कारण वे लोग दुर्भिक्ष समाप्ति के बाद भी मूल संघ के अनुशासन में नहीं लौटे। इस तरह सनातन मूलमार्ग से भ्रष्ट होकर इन लोगों ने श्री वीर निर्वाण वर्ष १६२* के लगभग अपना अलग संघ गठित कर लिया। जिसकी पहचान 'अर्धफालक' या 'निर्ग्रथ श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ' के नाम से होने लगी। वह संघ अपनी यथास्थिति में लगभग ४४४ वर्षों तक बना रहा। बाद में वह संघ श्री वीर निर्वाण वर्ष ६०६ में 'श्वेतांबर संघ' के नाम में परिवर्तित होकर आज विशाल फलक पर सक्रिय है।

❁ उक्त वृत्तांत में गवेषणीय तथ्य यह है कि : सनातन वीतरागमार्ग में देश-काल आदि किसी भी नाम पर अपनाया जानेवाला विक्रियारूप तनिक-सा भी हेरफेर या शिथिलाचारादि आगे चलकर कितना विकृत स्वरूप धारण कर लेते हैं ?!

तत्त्वतः प्रारंभिक छोटी-सी विक्रियारूप एक नन्हे-से बीज में विकृतियों की अनंत वट वृक्ष-शृंखला गर्भित रहती है; परंतु वह बाह्य या क्षणिक अथवा उपलक दृष्टि गम्य नहीं होती।

* इस विषय में इतिहासविदों में मतैक्यता नहीं है।

आज प्रत्यक्ष देखिए ! एक वल्कल-वस्त्र के मामूली-से टुकड़ों से उपजा परिग्रह का विस्तृत वटवृक्ष !! निर्ग्रथता के नामपर विकृतियों का अंबार !! वीतरागता के नाम पर देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का विकृत प्रदर्शन !!... जो हम सभी को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी अत्यंत सचेत / सजग रहने हेतु निरंतर चेतावनी देता है।

❁ तादृश एक अन्य दुर्निवार घटना श्री वीर निर्वाण वर्ष ५९३ में घटित हुई। परिणामतः प्रवर्तित 'मूलसंघ' (- निर्ग्रथ श्रमणसंघ / दिग्वास / दिग्बर) पुनः हुण्डावसर्पिणी काल के कराल चक्रवात में जा फसा। जब तत्कालीन मूलसंघ-नायक आचार्यदेव श्री अर्हद्वलिस्वामी ने पंच वर्षीय युग प्रतिक्रमण के प्रसंग पर महिमा नगर में निर्ग्रथ श्रमणों का एक ऐतिहासिक यति संमेलन आहूत किया। तब, यद्यपि प्रायोजित संमेलन में प्रायः सभी दिग्बराचार्यगण अपने-अपने संघ सहित पधारे, तथापि आचार्यदेवश्री को उनमें से कुछ आचार्यों - साधुओं के बीच कुछ विशेष प्रकार का पक्षपात प्रतीत हुआ, जिसे देख, उन्हें एक दुरंत निर्णय लेने को बाध्य होना पड़ा। फलस्वरूप उन्होंने परंपरागत 'मूल संघ' को नदिसंघ, वीर संघ, अपराजित संघ आदि कई संघों में विभाजित कर, उन सभी के स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने पड़े। इस प्रकार 'मूल संघ' कई संघों में विभाजित हो गया।

कालांतर में उक्त विभाजित संघों के और भी विभाजन तथा नये-नये संघ बनते एवं बिगड़ते रहे। जिनमें से अनेक संघों में शिथिलाचारादि कई विपर्यास उत्पन्न हो गये, अतः ऐसे संघों को मूल संघ-संनिष्ठ आचार्यदेवों ने 'जैनाभासी' भी घोषित किया है।

❁ - यह कैसा विकट दुर्भाग्य है कि परम पवित्र / सर्वांग निर्दोष 'मूल संघ' को अंतर-विग्रहजन्य स्वच्छंदता का सामना अनेक बार करते रहना पड़ा है। घर के चिरागों से ही घर जलता रहा है। और लगभग वही दुःस्थिति आज भी मौजूद है।

❁ यद्यपि 'अर्घफालक' से लेकर मूल संघ के जितने भी विभाजन

हुए हैं, उनके मूल में मुख्यतः शिथिलाचारिता / अहंता / महत्वाकांक्षिता / स्वेच्छाचारिता - सदृश दूषित मनोवृत्ति ही भासमान होती है। तथापि, सर्व प्रकार के दूषणों के तात्त्विक अन्वेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि : सर्व प्रकार के दोषों का एकच्छत्री सरदार तो दर्शनमोहनीय ही है अर्थात् सर्व दूषणों का मूल दर्शनमोहनीय की ही प्रगाढ़ता है; इसीलिए शिथिलाचारितादि समस्त दोषितवृत्ति के मूल में दर्शनभ्रष्टता ही प्रमुख होती है। और इसी की प्रबलता से ही 'जिनशासन' खण्डित हुआ है व होता है। क्योंकि दर्शनभ्रष्टता अर्थात् भावदर्शनमोहनीय के प्राबल्य से स्वयमेव ही अनेक तरह के विपर्यास उद्भव हो जाते हैं; और उनके अनुमोदनारूप दोषित परिणाम भी सहज ही समुत्पन्न होते हैं। इस तथ्य के विशेष अवगाहन हेतु 'दंसणभट्टा ण सिज्झति' सूत्र का पारमार्थिक रहस्य अंतर गवेषणीय है।

❁ कालचक्र में, सद्धर्मतीर्थ को इतर धर्मान्धजनों से भी जूझना पड़ा व अनेक प्रकार के भीषण उपसर्ग सहने पड़े हैं। आततायी विधर्मियों ने सांप्रदायिक विद्वेषवश अनेक जैनधर्मावलंबी साधु-श्रावकों को कत्लेआम किया। हजारों जैनियों को धर्मपरिवर्तन हेतु विवश होना पड़ा। अनेक जिनमंदिर अन्य देव-देवियों के आयतनों में परिवर्तित कर दिये गए। अनेकानेक जिनायतन खण्डहरों में बदल दिये गए। लाखों जिनेन्द्रप्रतिमाएँ खण्डित-विकृत कर दी गईं। अनेक जिनायतनों की अढलक संपत्ति लूट ली गई। अनगिनत सत्शास्त्रों की होली कर दी गई। हजारों दुर्लभ जिनेन्द्रप्रतिमाएँ व सत्शास्त्र तस्करों के हत्थे चढ़ गए। - ऐसे अनेकरूप में हुण्डावसर्पिणी कलिकाल सद्धर्मतीर्थमंच पर दारुण ताण्डव लीला करता रहा है।

❁ इसी अवधि में भट्टारकों का भी उद्भव हुआ। उन्होंने जैनधर्म-दर्शन-संस्कृति को बचाने - टिकाने का प्रयास भी किया। परंतु साधन की अपवित्रता के कारण अभीष्ट साध्य सिद्ध न हो सका। वस्तुतः धर्म-दर्शन-संस्कृति की सुरक्षा व स्थायीत्व हेतु समीचीन सैद्धान्तीय

एवं तदनुरूप बाह्याभ्यन्तर सम्यक् आचरण अर्थात् निश्चय और व्यवहार सिद्धांतों की सुसंगतता का ठोस आधार-बल होना अति आवश्यक होता है। परंतु वह उन लोगों में नहीं सा था। फलस्वरूप अधिकांश भट्टारकों में तत्त्व की उज्ज्वलमयी प्रज्ञा के स्थान पर आकांक्षापूर्ण मति उत्पन्न हो गई; और उन्होंने मंत्र-तंत्र-चमत्कारादिरूप लोक-रंजनीय पद्धतियों का अनुशरण किया, जिसके कारण सद्धर्मतीर्थ को लाभ मिलने के बजाय नुकसान विशेष हुआ। साथ ही वैसे अपवित्र साधनों के कारण तीर्थ के बाह्य स्वरूप में अनेक जाति की विसंगतियाँ भी समाहित हो गई; जो आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका मूल आमनाय से तनिक भी सुमेल नहीं है। यद्यपि भट्टारकप्रथा प्रायः समाप्त हो चुकी है, फिर भी कहीं कहीं उसके अवशेष विद्यमान हैं।

☉ यहाँ प्रसंगवशात् 'जैन परंपरा-संस्कृति-संरक्षण' विषयक कुछ महत्त्व के पहलू परिशीलन हेतु प्रस्तुत हैं : वस्तुस्थिति तो यह है कि श्री तीर्थकरदेव-प्ररूपित मार्ग की परंपरा के निष्ठ संरक्षण से ही जैनसंस्कृति का संरक्षण हो सकता है। तथापि, यह एक जटिल व नाजुक विषय भी अवश्य है। सामान्यतया अधिकांश लोग परंपरा के विषय को मात्र बाह्य आचार - विचार की मर्यादा में विचारते हैं; परंतु वह जैनमार्ग में वहीं तक सीमित नहीं होता। सिद्धांततः तो जैनमार्ग में 'बाह्याचरण' राग और वीतरागता के मिश्र परिणमन के निमित्त से उत्पन्न 'नैमित्तिक साधक-पर्याय' है। परंतु,

उक्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर प्रायः लोगों का लक्ष्य नहीं होनेसे, तथाकथित धर्मनेताओं सहित सभी लोग उल्लिखित विषय में मात्र बाह्य परंपरा के निर्वाह हेतु प्रवृत्ति-विचार करते हैं; जो समीचीन तथा निरापद नहीं है। कारण कि वैसी प्रवृत्ति से कालांतर में सांप्रदायिक बुद्धिजन्य संकुचित मनोवृत्ति, बाह्यक्रिया के आग्रहरूप जड़ता या शुष्काचारादि जैसी अनेक विकृतियों की जैनमार्ग में प्रवेश हो जाने की पूरी संभावना रहती है। और ऐसी विकृतियाँ धीरे-धीरे परंपरा

का रूप धारण कर जाती हैं; जो कालांतर में जैनमार्ग के रूप में ही स्थापित हो जाती हैं। जिससे उनमें से विकृति व मूल परंपरा के बारे में अंतर समझना प्रायः अशक्य-सा हो जाता है। - ऐसी स्थितिवश बाद में तो बुद्धिशाली लोग भी प्रायः उसी परंपरा-निर्वाह के आग्रह में अथवा तो संस्कृति-संरक्षण जैसे खयालों के पीछे वर्तने लगते हैं। और वैसी प्रवृत्ति से वस्तुतः मात्र विमार्ग-अयथार्थता को ही पोषण मिलता है।

अतएव उक्त संदर्भ में वस्तुस्थिति के विचार से यह स्पष्ट होता है कि 'परंपरा-संस्कृति-संरक्षण' के विषय में समीचीन निर्णय व प्रवर्तन करने का अधिकार भी वीतरागदशा प्राप्त ज्ञानीधर्मात्मा को ही है; क्योंकि वे ही श्री तीर्थकरदेव के आभयन्तर वीतरागमार्ग की दृष्टि संपन्न होते हैं। दर्शनमोहनीय के अभाव में उनका निर्मल ज्ञान, सहज संतुलित निर्णय करने की अद्भुत क्षमता रखता है। अतएव वे ही प्रकृत विषय संबंधित निर्णय-प्रवर्तन करने के अधिकारी होते हैं। चर्चित संदर्भ में यह तथ्य भी मननीय है कि ज्ञानी धर्मात्मा कभी भी असत्साधन अपनाकर साध्य सिद्ध करने की तजवीज नहीं करते हैं; जब कि अन्य लोग प्रतिकूलतादि प्रसंगों में असत्साधन द्वारा साध्य को साधने की प्रवृत्ति में संकोच नहीं करते हैं, जिससे अंततः सद्धर्मतीर्थ की मूल परंपरा को आघात पहुँचता है।

☉ अब यहाँ श्री वीरशासन के वर्तमान अनुयायियों की भी समीक्षा कर लेना योग्य है। तदर्थ उल्लेखनीय है कि, यदि सांप्रत जैनधर्मावलंबियों के आचार-विचारदि को सद्धर्म-सिद्धांतीय-मर्यादा की कसौटी पर जाँचा-परखा जाए तो, ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि प्रायः लोग मूल आमनाय से मानो कोसों दूर चले गये हैं।

वर्तमान जैन समाज के अधिकांश लोगों का लक्ष्य 'स्वात्मलक्ष्यी' नहीं रहा है। उनका लक्ष्य भौतिक हो जाने से वे भोग-विलास संबंधी संसाधन जुटाने के पीछे अंधी दौड़-धूप में व्यस्त हैं। जिससे उन

लोगों के पास अपने आत्मोत्कर्ष हेतु कुछ सोचने - विचारने जितना भी अवकाश नहीं है। ऐसे लोगों में प्रायः बाह्याचार संबंधी भी विवेक नहीं रह गया है। और अमुक लोग तो अन्य धर्ममतवत् प्रवृत्ति करते हुए भी दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह वे लोग सद्धर्म से विमुख प्रवर्त रहे हैं।

स्थिति तो इतनी विडम्बनीय है कि अमुक जैन लोग अपनी भौतिक लालसाओं की पूर्ति हेतु, विवेक शून्य हो, वीतरागी देवों के सम्मुख याचना-मनौती भी करने लगे हैं। और,

कहीं कहीं तो स्तर इतना गिर चुका है कि कई जिनमंदिरों में बिराजमान वीतरागी जिनबिंबों की पूजा-अर्चनादि करने के बजाय कुदेव-देवियों की मुख्यता - अर्चनादि देखने में आती है।

उपहास्य स्थिति तो यह भी है कि वीरप्रभु के कथित अनुयायी भी अन्य देव-देवियों, कुगुरुओं, कुलिंगियों या लिंगाभासों के चमत्कारों के मायाजाल में तथा मंत्र-तंत्र-ज्योतिष आदि के व्यामोह में फँस चुके हैं।

आज समाज के अधिकांश लोग प्रायः सत्संग से विमुख वर्त रहे हैं और वे असत्संग या कुसंग जैसी प्रबल आत्मघाती प्रवृत्तियों में रत हैं।

आज आपस में तत्त्वकथा-वार्ता लुप्त प्रायः हो चली है, उसकी जगह सर्वत्र विकथादि का बोल-बाला हो गया है; तदर्थ साधनों का बाहुल्य आज घर-घर में स्पष्ट नजर आता है।

वहीं कुछ धर्मभीरु-भद्रजन बाह्य क्रियाकाण्ड में लीन हो 'क्रिया-जड़' बन गये हैं; तो कुछ मात्र 'शुष्कज्ञानी' हो गये हैं। कहीं अमुक लोग ओघसंज्ञापूर्वक ज्ञान व क्रिया - दोनों की प्रवृत्ति में लगे हैं। परंतु आज प्रायः जैन समाज में जिनागम-निर्दिष्ट आगम-अध्यात्म सिद्धांतों की मर्यादानुसार समीचीन प्रवृत्ति अथवा उसके प्रति एकनिष्ठता-प्रतिबद्धता का तो अभाव ही प्रतीत होता है।

वर्तमान की विचित्र शोचनीय स्थिति तो विशेष मननीय है कि जहाँ इतर धर्मावलंबी सुसंगठित होकर अपने - अपने समाज को सर्वांग सुदृढ़ करने में लगे हैं और अपने अभीष्ट में सफल भी हो रहे हैं; वहाँ हमारे समाज में परस्पर साधर्मिभावना, सद्भाव, प्रीति, वात्सल्यता, सहिष्णुतादि का अभाव-सा होता जा रहा है। इतना ही नहीं, आज हमारे बीच में ऐसे समाजघाती परिवल उदित हो चुके हैं जो समाज की शक्ति को छिन्न-भिन्न करके, अपनी स्वार्थीवृत्ति और वैयक्तिक अहंता व महत्त्वाकांक्षा की संपूर्ति के उद्वेगवश समाज के घटकों के बीच कटुता का विष फैला रहे हैं। तदर्थ वे लोग तथ्यहीन - असत्य-अनर्गल बातों के मुद्दे बनाकर, सत्य से अनजान लोगों को व्यामोहित और विभ्रमित करके, उन्हें उकसा कर, आपस में कलह के वातावरण का सर्जन कर देते हैं। जिसके कारण आज अपनी समाज में अंतर विग्रह वेग पकड़ता जा रहा है और समाज अपनी शक्ति क्षीण करता जा रहा है। और ऐसे लोग सद्धर्म और उसके शाश्वत सिद्धांतों को मनमानेरूप में या सांप्रदायिक ढाँचे में ढालने का भी प्रयास कर रहे हैं।

⊗ वस्तुतः सांप्रदायिकबुद्धि जैसी संकुचित मनोवृत्ति सद्धर्मतीर्थ के लिए अत्यंत प्रतिकूल है। क्योंकि वैसी मनोवृत्ति अनेकानेक विसंगतियों, कदाग्रहों व वैमनस्यतादि अनिष्टों की जनक होती है। अतः यदि ऐसी वृत्ति का समुचित परिहार न हो सका तो वह संपूर्ण जैनधर्मावलंबियों के लिए 'आत्मघाती' सिद्ध होगा। अतएव उक्त मनोवृत्तिरूप विष के निर्विषीकरण का सम्यक प्रयास समाज के मनीषियों को आपस में मिलजुलकर, आपसी विमर्श-विनियोगपूर्वक करना योग्य है। अन्यथा भावी प्रबल !

⊗ यद्यपि विगत २५१६ वर्षों से प्रवहमान श्री वीरशासन उक्त प्रकार के विकट कलयुगजन्य प्रचण्ड झंझावातों से अनेक प्रकार से जूझता रहा है। तदपि, श्री वीरशासन के सुषमाशाली, दीप्तिमान,

उज्ज्वल पहलू के विषय में उल्लेखनीय है कि : महान् महान् सद्भाग्य से सद्धर्मतीर्थ की दीपशिखा अविरत प्रभासित है। जिसका सर्वश्रेय, मूलआम्नाय के प्रति सजग, अजेय, सिंहवृत्तिवंत, मूर्तिमंत मोक्षतत्त्वस्वरूप, धर्मधुरंधर, धर्मदिवाकर ऐसे महान् सामर्थ्यवंत परम श्रद्धेय आचार्यभगवंत सर्व श्री कुंदकुंदस्वामी, उमास्वामी, समंतभद्रस्वामी, वीरसेनस्वामी आदि आचार्यों सहित अन्य पूर्व व उत्तरवर्ती आचार्यों - मुनिराजों को है कि, जिन्होंने द्रव्य व भाव जिनशासनरूप सद्धर्मतीर्थपथ को अपनी महिमामण्डित विद्यमानता से एवं अपनी बाह्याभ्यंतर पावन साधना के बल से देदीप्यमान रखा। धन्य है ऐसे संत-महात्मा ! जयवंत हो उनकी सुमंगल विद्यमानता ! त्रिकाल वंदनीय है उनकी पवित्र साधना !

वर्तमान में भी उन्हीं धर्मस्तंभ, निष्कारण करुणासागर, धर्ममूर्तियों के 'अक्षरदेह' से 'सर्व जिनशासन' जीवंत है, जयवंत वर्त रहा है; जो आत्मसाधना-पथ के पथिकों और आत्म-अन्वेषकों के मार्ग-प्रदर्शन हेतु दीपशिखावत् परम उपकारभूत है। और उसके आलोक में साधकगण अखण्ड मोक्षमार्ग साध रहे हैं।

यद्यपि वेदांत-बौद्ध आदि आस्तिक्य दर्शनों के धर्मप्रणेता प्रखर बुद्धिमान हुए हैं। उनमें उन लोगों का बुद्धिकौशल, उपदेशबोध व तद्संबंधित मीमांसा दृष्टिगोचर तो होती है परंतु उनकी तात्त्विक-दृष्टि से तुलना व मूल्यांकन करने में आवे तो उन सभी में - 'पदार्थदर्शन के अभाव में' - मात्र चारित्रमोहजनित परिणामों की मंदता प्राप्त कराने के लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ विशेष नहीं है। मूलतः उनमें अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के लक्ष्य का व विज्ञान का अभाव वर्तता है, जो अंतरदृष्टिजन्य है। अतः बाह्य व स्थूलदृष्टि से वैसे ज्ञान और चारित्र के क्षायोपशमिकभाव की महिमा करके, अंतर-सूक्ष्म स्वभावदृष्टि को चूकना योग्य नहीं है।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, जैनदर्शन सर्वांग निर्दोष व पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और सर्वोत्कृष्ट है। कारण कि, इसमें परिपूर्ण शुद्धिरूप ध्येय

के लक्ष्य से आरंभ होकर, तदनुसार प्रथम ही दर्शनमोह व अनंतानुबंधी जनित चारित्रमोह के अभावपूर्वक मोक्षमार्ग का मंगल प्रारंभ होता है। तभी आविर्भूत होते अतीन्द्रिय ज्ञान व आनंद तथा उसके विकासक्रम से लेकर परिपूर्ण शुद्धता पर्यंत की विधि की अद्भुत संकलना से विशिष्ट प्रतिपादित उपदेशबोध व वस्तु-विज्ञान के सिद्धांतों के संतुलित विवेचन का सुंदर प्रवाह, उसमें उपदिष्ट है। मुक्तिमार्ग की ऐसी अनुपम गाथा को, सर्वांग निर्दोष वीतरागी दशा में आरूढ़ होकर अतीन्द्रिय पदार्थ के स्वानुभव में कलम डुबाकर लिखा गया है। उसे परलक्ष्यीज्ञान के मर्यादित उघाड़ के साथ, किस भाँति तुलनात्मक दृष्टिकोण से, विचारा जाए ? इस दर्शन के अनुशरण से ही मुक्ति का समाचीन मार्ग प्राप्त होता है; अतः यही यथार्थ, सार्थक, अनुपम, परम शोभनीय सत् दर्शन है।

- ऐसे इस परम पवित्र गुणनिधिस्वरूप सत्दर्शन और उसके मूलमार्ग में तनिक सी भी संकुचितता, सांप्रदायिकता, चमत्कारादि प्रत्ययी व्यामोह, विपरीत अभिनिवेशता, महत्त्वाकांक्षीवृत्ति, लोकसंज्ञा, अहंता, स्वेच्छाचारिता, शिथिलाचारिता आदि कलुषितवृत्तिरूप, दूषणों के लिए कहीं कोई स्थान ही नहीं है। यह तो एकांत निर्दोष व अनंत सुख प्राप्ति का दर्शन है। एकमेव बाह्याभ्यंतर वीतरागता - निष्कलंकता ही सद्धर्मतीर्थस्वरूप 'जिनशासन' का मूल है। परंतु,

वर्तमान जैनसमाज में अनेक प्रकार के विपर्यासजन्य दूषण पल्लवित हो रहे हैं, जिनका उल्लेख ऊपर में कर ही चुके हैं। जिनको लेकर यत्र-तत्र अनिष्ट घटनाएँ प्रायः निरंतर सुनने, पढ़ने या देखने में आती हैं। परंतु इनके मूल का अन्वेषण करने पर यही तथ्य उभरता है कि अधिकांश लोगों में 'जिनशासन' के समीचीन स्वरूप की ही अनभिज्ञता वर्त रही है। इसीलिए यहाँ आत्मार्थियों के अवगाहन हेतु 'जिनशासन' का सत्य स्वरूप प्रस्तुत है :-

'जिनशासन' के दो भेद हैं - द्रव्य और भाव। इन दोनों में समस्त

जिनशासन समाविष्ट हो जाता है। ऐसा विधान जिनवाणी अर्थात् श्रुत में है। इसके संदर्भ में 'श्री समयसार' गाथा - १५ उल्लेखनीय है :

'जो परस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणण्णम विसेसं।

अपदेस संत मज्झं परस्सदि जिणसासणं सव्वं।।'

'जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्ष से नियत और असंयुक्त) देखता (- अनुभवता) है, वह सर्व जिनशासन को देखता (- अनुभवता) है, - जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा आभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।'

उक्त गाथा से यह स्पष्ट होता है कि, 'समस्त जिनशासन' द्रव्य-भाव श्रुतज्ञानरूप है। तत्त्वतः भावश्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को द्रव्यकर्म-भावकर्म-नौकर्म रहित, शुद्ध, सामान्य, एकरूप अनुभवता है। और जिसे भावश्रुतज्ञान है उसका ही द्रव्यश्रुतज्ञान समीचीन होता है, और उसके विकल्पात्मकज्ञान को ही द्रव्यश्रुत कहा जाता है। भाव और द्रव्य - दोनों मोक्षमार्ग में सापेक्ष हैं। जैसे कि जिनमें भावलिंग है उन्हीं के ही बाह्य त्याग को द्रव्यलिंग की संज्ञा मिलती है; परंतु अन्य त्यागी को नहीं। उसी प्रकार निर्विकल्प भावश्रुतरूप स्वानुभवी के सविकल्पज्ञान को ही द्रव्यश्रुत संज्ञा मिल सकती है; अन्य ज्ञान को नहीं।

सम्यग्दृष्टि जीव (द्रव्यदृष्टि से) अपने आत्मा को परिपूर्ण व शुद्ध मानता है तथा उसे ही (पर्यायदृष्टि में) सर्वस्वरूप से उपादेय जानता है। - ऐसा 'सम्यक् दृष्टिकोण' ही समस्त द्रव्यश्रुत का केन्द्र स्थान है। उसे इस प्रकार वह स्यात् पद से समीचीन समझता है अर्थात् ग्रहण करता है।

सम्यग्दृष्टि को अपने अनंत चतुष्टय मण्डित शुद्धात्मा का जो अतीन्द्रिय सहज प्रत्यक्ष स्वानुभव वर्तता है, वही 'भावश्रुतज्ञान' है। उसने इस ही अनुभवज्ञान की जाति से पूर्ण ज्ञान की जाति को पहचाना है, अर्थात् उसको केवलज्ञानरूप स्वभाव के अवलम्बन से भावश्रुतज्ञान

प्रस्फुटित हुआ है।

उपर्युक्त कारणवश उद्धृत गाथा में आचार्यभगवन्त ने अभेदनय से स्वानुभव विभूषित धर्मात्मा को 'समस्त जिनशासन' कहा है। और ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे ही धर्मात्मा की उक्त यथार्थ विशिष्टता दर्शायी है। क्योंकि 'भाव जिनशासन' तो जिनस्वरूप निजपद की आराधना - साधना के भावरूप है; और ऐसे भाव के धारक मोक्षमार्ग में विचरते धर्मात्मा होते हैं। इसीलिए मोक्षमार्गी धर्मात्मा स्वयं ही द्रव्य-भावरूप 'समस्त जिनशासन' हैं। - ऐसा आशय, उक्त गाथा से स्पष्ट होता है।

अतः मोक्षमार्गी धर्मात्मा स्वयं मूर्तिमंत जिनशासन होनेसे वे ही द्रव्यश्रुत-तीर्थ प्रकाशनादिरूप प्रवृत्ति करने के अधिकारी हैं; अन्य नहीं।

ज्ञानी धर्मात्मा की अविद्यमानता में अथवा विद्यमान होने पर भी उनकी उपेक्षापूर्वक होती बाह्य तीर्थ प्रभावनादि की प्रवृत्तियों में कहीं न कहीं विपर्यायस हो जाना अवश्य संभवित होता है। और कभी तो उससे वैसी कोई तीर्थ-विसंगत पद्धति-प्रणालिका भी प्रवेश कर जाती है कि जो कालांतर में अनेक प्रकार की विपरीतताओं - विकृतियों के सर्जन होने का कारण सिद्ध होती है।

यद्यपि रूढ़िअर्थ में द्रव्यतीर्थ की बाह्य प्रवृत्तियों को अथवा उनमें संलग्न अनुशासित जन समुदाय को भी जिनशासन कहने - मानने में आता है; परंतु वह वस्तुतः सम्यक् नहीं है। क्योंकि समस्त द्रव्यजिनशासन का प्राण तो भावजिनशासन होता है, और उसके अभाव में बाह्य तीर्थ-प्रवृत्ति आत्मविहीन - निष्प्राण जैसी मृतकलेवरवत् है।

ज्ञानीधर्मात्मा के ज्ञान में समीचीनता वर्तती है। उनमें सद्धर्मतीर्थ संबंधित प्रत्येक प्रवृत्ति के शोधन की क्षमता रहती है। उनके पास प्रकृष्ट विवेकरूप सम्यक् नेत्र होते हैं, जिससे ज्ञानीधर्मात्मा के सर्व आशय व प्रवृत्ति निर्दोष व न्यायशुद्ध होती है।

वस्तुतः भावजिनशासन के सद्भाव में ही द्रव्यजिनशासन सर्वांग

निर्दोषतापूर्वक पल्लवित होता है, हो सकता है; सुशोभित रहता है। और उससे ही सद्धर्मतीर्थ की समीचीन प्रभावना होती है। किन्तु उसके अभाव में आगम-अध्यात्म सिद्धांतों और तदनुरूप आचार-विचार में मर्यादा, यथार्थता, निर्दोषता और संतुलन रह पाना दुष्कर है। परिणामस्वरूप कभी आगम-सिद्धांतों के मण्डन में अध्यात्म-सिद्धांत खण्डित हो जाते हैं; या फिर अध्यात्म-सिद्धांतों की पुष्टि में अतिरेक हो जाने से आगम-सिद्धांत खण्डित हो जाते हैं। और कभी दोनों के संतुलन करने में सूक्ष्म असंतुलनरूप विपर्यास रह जाता है। तो कभी निश्चय-व्यवहार की सुसंगता नहीं रह पाती जिससे नयाभास आविर्भूत हो जाता है। तो कभी मुख्य-गौण, प्रयोजन-अप्रयोजन, हेय-उपादेयभूत बातों / तत्त्वों के अवधारण में समीचीनता नहीं रह पाती। कभी साधन-विषयक विपर्यास हो जाता है। तो कभी मध्यस्थता के बहाने या परंपरादि के आग्रहवश भी व्यामोह उत्पन्न हो जाता है। सद्दिवेक के अभाव में विपरीत अभिनिवेशयुक्त प्रवृत्तियाँ प्रवर्तती हैं। - इत्यादिक अनेक प्रकार के सूक्ष्म या स्थूल विपर्यास से तीर्थमर्यादा का अतिक्रमण या असंतुलन हो जाने से सद्धर्मतीर्थ हेतु होनेवाली प्रकाशन - प्रचार - प्रभावनादिरूप प्रवृत्तियाँ तीर्थ के लिए लाभदायी नहीं रहती वरन् हानिकारक ही सिद्ध होती हैं। साथ ही दूसरी ओर वैसी प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्ति में भी विपर्यासजन्य दर्शनमोहनीय - गृहीत मिथ्यात्व तीव्र हो जाता है। अतएव ऐसी वस्तुस्थिति के कारण से 'उक्त प्रकार' व्यक्ति व शासन - दोनों के लिए ही लाभकारी नहीं होता।

वास्तव में जिनमें 'भावजिनशासन' प्रगट नहीं है, वे 'द्रव्य - जिनशासन' की कोई भी प्रगट प्रवृत्ति करने के अधिकारी ही नहीं होते। - इस तथ्य को अपने हृदयपटल पर टंकोत्कीर्ण करके, 'कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए' ऐसा अभिप्राय निश्चित रखकर - फिर भी, कोई प्रवृत्ति का बोझ सिर पर आ पड़े तो, उदयवश प्रवृत्ति करनी पड़ती है - ऐसा समझकर, अत्यंत जागृति पूर्वक, आत्मश्रेय की तीव्र

भावना और दृढ़ मोक्षेच्छा सहित - विद्यमान ज्ञानीधर्मात्मा के चरण सान्निध्य में रहकर, उनके प्रति सर्वार्पणता व एकनिष्ठतापूर्वक, उनकी आज्ञा-आराधन सहित, उनके आश्रय में वर्तते हुए ही तीर्थप्रभावनादि की कोई भी बाह्य - प्रगट प्रवृत्ति करना उनके लिए निरापद है; और तभी वे उल्लिखित संभवित दोषों से बच सकते हैं; अन्यथा तो बाह्य तीर्थप्रवृत्ति करना एक बड़ा भारी जोखिमवाला कार्य है। अतः आत्मार्थी जीवों को इस तथ्य को अति गंभीरतापूर्वक अवधारण करना योग्य है।

जो जीव संसार के त्रिविध ताप से संतप्त हुआ हो और वैसी स्थिति उसे असह्य बन पड़ी हो; तथा जिसे रंजमात्र भी कषाय कलंक नहीं सुहाता हो, जिससे उसे पूर्ण निष्कलंक होने की उत्कट भावना वर्तती हो - ऐसे आत्माओं के उद्धार व आश्रय हेतु एकमात्र कल्पद्रुमतुल्य 'जिनशासन' ही आश्रयरूप है; और जैसे कि ऊपर दर्शाया गया है तदनुसार 'विद्यमान ज्ञानी धर्मात्मा' ही 'समस्त जिनशासन' हैं, मूर्तिमन्त जिनशासन हैं।

“जैनं जयतु शासनम्”

भावनगर,
दिनांक : २२-३-१९९०

शशीकांत म. शेट

अहो
 सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग-
 अहो
 उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्ग के
 मूल सर्वज्ञदेव;-
 अहो
 उस सर्वोत्कृष्ट शांतरस को जिन्होंने ने सुप्रतीत
 कराया
 ऐसे परमकृपालु सद्गुरुदेव-
 इस विश्व में सर्वकाल
 आप
 जयवंत रहे, जयवंत रहे।

श्रीमद् राजचंद्र

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ’

ॐ

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
 दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
 प्रशांति अनंत सुधामय जे,
 प्रणमुं पद ते वरते जयते.

ॐ

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्या,
 श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्या.
 गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,
 गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

ॐ

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
 कई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

ॐ

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

ॐ

ॐ
वीतरागाय नमः

❖ ज्ञानसाधनं सर्वं ❖

[‘गुरुदेवश्री के वचनमृत’ में से उद्धृत रत्न]

भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकार मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करते और मुनिराज के पधारने पर परम भक्ति पूर्वक आहारदान देते थे। अहा ! मानों आँगन में कल्पवृक्ष फलित हुआ हो, उससे भी विशेष आनंद धर्मात्मा को - मोक्षमार्ग-साधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर - होता है। साधक गृहस्थ की दृष्टि अपने राग रहित चैतन्यस्वभाव पर है और सर्वसंगत्याग की भावना है, तो भी उसे वैसे शुभभाव आते हैं। वे उस शुभराग की जितनी मर्यादा है उतनी जानते हैं। अंतर का मोक्षमार्ग तो राग से परे चैतन्यस्वभाव के आश्रय से परिणमता है। श्रावक के व्रत में अकेले शुभराग की बात नहीं है। जो शुभराग है उसे तो जैनशासन में पुण्य बतलाया है और उसी समय श्रावक को स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता वर्तती है उतना धर्म है; वह परमार्थव्रत है और वही मोक्ष का साधन है - ऐसा जानना। २०.



जो जीव पापकार्यों में तो उत्साह पूर्वक धन खर्च करते हैं और

२

‘गुरुदेवश्री के वचनमृत’ में से उद्धृत रत्न

धर्मकार्यों में कृपणता करते हैं उन्हें धर्म के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। धर्म के प्रेमी गृहस्थ को संसार की अपेक्षा धर्मकार्यों में विशेष उत्साह वर्तता है। ३४.



सत्समागम द्वारा आत्मा को पहचान करके आत्मानुभव कर ! आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि परीषह आने पर भी जीव की ज्ञानधारा चलित नहीं होती। तीनों काल व तीनों लोक की प्रतिकूलताओं के ढेर एक साथ आ जाएँ तो भी ज्ञातारूप से रहकर उन सभी को सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है। जिसने आत्मा को शरीरादि व रागादि से भिन्न जाना है उसे ये परीषहों के ढेर जरा भी प्रभावित नहीं कर सकते - चैतन्य अपनी ज्ञातृधारा से जरा भी विचलित नहीं होता बल्कि स्वरूपस्थिरतापूर्वक दो घड़ी स्वरूप में लीन हो जाये तो पूर्ण केवलज्ञान प्रकट कर ले, जीवन्मुक्तदशा हो जाये व मोक्षदशा को संप्राप्त हो। ३८.



ज्ञानी को भगवान आत्मा आनंदस्वरूप व राग आकुलतास्वरूप - ऐसे दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। त्रिकाली नित्यानंद चैतन्यप्रभु ऊपर दृष्टि प्रसरने पर साथ में जो ज्ञान होता है वह, चैतन्य व राग को अत्यंत भिन्न जानता है। जिसको तत्त्व की दृष्टि हुई है उसीको सम्यग्ज्ञान होता है। जिसको दृष्टि प्राप्त नहीं है उसमें चैतन्य व राग को भिन्न जानने की क्षमता नहीं होती। ४९.



मुनिदशा आने पर सहज ही निर्ग्रथ दिगंबर दशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल में नग्न दिगंबर ही होती है। यह कोई पक्ष या संप्रदाय की बात नहीं है बल्कि अनादि सत्य वस्तुस्थिति है।

शंका :- मुनिदशा में वस्त्र रहे तो क्या आपत्ति है ? वस्त्र तो परवस्तु है वह कहाँ आत्मा को बंधनरूप है ?

समाधान :- वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को बंधनकर्ता नहीं है, यह बात भी सही है; परंतु वस्त्रग्रहण की जो बुद्धि है - वह रागमय बुद्धि ही मुनिदशा की अवरोधक है। मुनि को अंतर रमणता करते करते इतनी उदासीन दशा सहज ही हो गई होती है कि वस्त्र-ग्रहण का विकल्प ही नहीं उठता। ६४.



यद्यपि तालाब के पानी की ऊपरी सतह बाहर से समान लगती है, परंतु अंदर प्रवेश करके उसकी गहराई का माप करने पर किनारे और मध्य की गहराई में कितना बड़ा अंतर है, यह खयाल में आता है। उसी प्रकार ज्ञानी व अज्ञानी के वचन / कथन को सरसरी तौर से देखने पर वे एक जैसे लगें, परंतु अंतरंग गहन रहस्य को लक्ष्यगत करने पर दोनों के आशय में कितना बड़ा अंतर है, वह समझ में आता है। ७०.



अहो घन्य यह मुनिदशा ! मुनिराज फरमाते हैं कि हम तो चिदानंदस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इस संसार के भोग हेतु अवतरित नहीं हुए हैं। अब हम अपने आत्मस्वभाव में प्रवृत्त होते हैं। अब हमारे स्वरूप में विशेष लीन होनेका यह अवसर आया है। अंतर आनंदकंदस्वभाव की श्रद्धा सहित उसमें रमणता हेतु जागृत हुए हमारे भाव में अब भगं नहीं पड़ना है। अनंत तीर्थकरों ने जिस पंथ में विचरण किया हम भी उस ही पंथ के पथिक हैं। ७५.



ज्ञानी के आंतरिक जीवन को समझने हेतु अंतरंग पात्रता चाहिए। धर्मात्मा अपने पूर्व प्रारब्ध के योग से बाह्य संयोग में खड़े हों तो भी उनकी परिणति अंदर में कुछ अन्य ही कार्य करती रहती है।

संयोगदृष्टि से देखे तो वह स्वभाव समझ नहीं सकता। धर्मी की दृष्टि संयोग ऊपर नहीं बल्कि आत्मा के स्वपर-प्रकाशक स्वभाव ऊपर होती है। ऐसे दृष्टिवंत धर्मात्मा का आंतरिक जीवन अंतर-दृष्टि से समझने में आता है, बाह्य संयोग पर से उनका माप नहीं निकलता।

७६.



ज्ञानी धर्मात्मा को भगवान की पूजा-भक्ति आदि के भाव आते हैं परंतु उनकी दृष्टि राग रहित ज्ञायक आत्मा ऊपर जमी रहती है। उन्हें आत्म-भान है; उन्हें उस भान में धर्म सतत वर्तता है। यथार्थ समझनेवाले को वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति का प्रशस्त राग आये बिना नहीं रहता। मुनिराज को भी ऐसे भक्ति के भाव आते हैं, जिनेन्द्रप्रभु के नामस्मरण से भी उनका चित्त भक्तिभाव से उल्लसित हो जाता है। अंतरंग में वीतरागी आत्मा का लक्ष्य हो जाए और बाह्य अप्रशस्त राग न टले, यह कैसे बने ? जो लोग भगवान की भक्ति के भाव का निषेध करते हैं परंतु खाने-पीने आदि के कलुषित राग में संयुक्त होते हैं वे तो मर कर दुर्गति में जायेंगे। ‘मेरा स्वरूप ज्ञान मात्र है राग मेरा स्वरूप नहीं’ - जो ऐसे सत्य को जानते हैं उनकी लक्ष्मी आदि परपदार्थों के प्रति का ममत्व सहज ही घट जाता है और भगवान की भक्ति - प्रभावना आदि का भाव उल्लसित होता है। तथापि वे यह जानते हैं कि यह राग है, धर्म नहीं है। अंतर शुद्ध चिदानंदस्वरूप को जान कर, उसे प्रगट किये बिना जन्म-मरण टलनेवाला नहीं है। ८१.



धर्म भी ज्ञानी को होता है व ऊँचे पुण्य भी ज्ञानी को बंधते हैं। अज्ञानी को आत्मा के स्वभाव का भान नहीं, इसीलिए उसके धर्म भी नहीं और ऊँचे पुण्य भी नहीं। तीर्थकरपद, चक्रवर्तीपद, बलदेवपद - ये सभी पद सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त होते हैं; कारण

कि ज्ञानी को यह भान है कि - एक मेरा निर्मल आत्मस्वभाव ही आदरणीय है उसके सिवाय राग का एक अंश या पुद्गल का एक रजकण भी आदरयोग्य नहीं है। - ऐसी प्रतीति रहने पर भी वह अभी संपूर्ण वीतराग नहीं होने से आंशिक राग आ जाता है उसमें किसी विशिष्ट प्रकार के राग के कारण तीर्थकर, चक्रवर्ती वगैरह ऊँची पदवी बंध जाती है। ८२.



अहो ! अड़ोल दिग्बरवृत्ति के धारक, वन में रहनेवाले और चिदानंदस्वरूप आत्मा में डोलनेवाले मुनिवर ! आत्मा के अमृतकुण्ड में मग्न होकर छट्टे-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, उनका अवतार सफल है। ऐसे संत मुनिवर भी वैराग्य की बारह भावना भाते हुए वस्तुस्वरूप का चिंतन करते हैं। अहा ! तीर्थकर भी दीक्षा पूर्व जिनका चिंतन करते हैं ऐसी वैराग्यरस-रसित बारह भावनाओं को भाने से किस भव्य को आनंद स्फुरित न हो ? और किस भव्य को मोक्षमार्गप्रति उत्साह जागृत न हो ? १०३.



दृष्टि का विषय द्रव्यस्वभाव है, उसमें तो अशुद्धता की उत्पत्ति ही नहीं है। समकित्ती को किसी एक भी अपेक्षा से अनंत संसार का कारणरूप मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का बंध नहीं होता; परंतु इस परसे कोई यह मान लेवे कि उसे तनिक भी विभाव व बंध ही नहीं, तो वह एकांत है। समकित्ती को अंतर शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और स्वानुभव होने पर भी अभी आसक्ति शेष है जो उसे दुःखरूप लगती है। रुचि और दृष्टि की अपेक्षा से भगवान आत्मा तो अमृतस्वरूप आनंद का सागर है जिसके नमूने के रूप में जो समकित्ती को वेदन वर्तता है उसकी तुलना में शुभ - व अशुभ - दोनों राग दुःखमय लगते हैं; परंतु उसके अभिप्राय में तो वे विष और काले नाग तुल्य प्रतीत होते हैं। १०६.

ज्ञानी को यथार्थ द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है; वह द्रव्य के आलंबन द्वारा अंतर स्वरूपस्थिरता में वृद्धि करता जाता है; परंतु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरुषार्थ मंद है, पूर्णरूप से शुद्धस्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब तक वह शुभ परिणाम में संयुक्त होता है, परंतु वह उन्हें आदरणीय नहीं मानता है; उनकी स्वभाव में 'नास्ति' है अतएव दृष्टि उनका निषेध करती है। ज्ञानी को हर समय यही भावना वर्तती है कि इसी क्षण पूर्ण वीतराग हुआ जाता हो तो मुझे ये शुभ परिणाम भी नहीं चाहिए, परंतु उसे अपूर्ण दशावश शुभभाव आये बिना नहीं रहते। १३८.



धर्मी को शुभ परिणाम भी आफतरूप लगते हैं; व उनसे भी छूटना ही चाहता है; परंतु वे आये बिना नहीं रहते। ये भाव आते हैं तो भी वह स्वरूप स्थिरता का उद्यमी रहता है। उसके कोई कोई समय बुद्धिपूर्वक के सभी विकल्प छूट जाते हैं और वह स्वरूप में सहज स्थिर हो जाता है उस वक्त अपने में सिद्धभगवान जैसा आंशिक अनुभव करता है; परंतु वह वहाँ स्थायीरूप में स्थिर नहीं रह सकने की वजह से शुभ परिणाम में संयुक्त होता है। १३९.



ज्ञानी तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् स्वयं की (पुरुषार्थ -) शक्ति एवम् बाहर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर प्रतिमा या मुनिपना लेता है, देखादेखी से प्रतिमा नहीं लेता। ये सभी दशायें सहज होती हैं। १४१.



अहो ! मुनिवर तो आत्मा के परम आनंद में झूलते झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिग्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। दिग्बर साधु यानी साक्षात् मोक्ष का मार्ग। ये तो छोटे सिद्ध हैं, अंतर चिदानंदस्वरूप में झूलते झूलते

बारंबार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनंद का अनुभव करते हैं। पंचपरमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात ! ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनंद की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणारविंद को नमन करते हैं। धन्य यह मुनिदशा ! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं। १४२.



जहाँ मोहयुक्त मनुष्य ऐसे मनोरथ सेवन करता है कि 'मैं कुटुंब और रिश्तेदारों में अग्रगण्य होऊँ, मेरे धन, घर और पुत्रों की बहुत अभिवृद्धि हो तथा मैं अपने परिवार को सर्वाङ्गीण भरा-पूरा छोड़कर मरूँ।' वहाँ गृहस्थाश्रममें रहा हुआ धर्मात्मा आत्मा की प्रतीतिपूर्वक पूर्णता के लक्ष्य से ऐसे तीन मनोरथ सेवन करता है : (१) मैं सर्व संबंधसे निवृत्त होऊँ, (२) मैं स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ द्वारा स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा विषय - कषायरूप अभ्यंतर परिग्रह को त्याग करके निर्ग्रथ मुनि होऊँ, (३) मैं अपूर्व समाधि-मरण को प्राप्त करूँ। १६९.



सम्यग्दृष्टि यानी कि जिसे आत्मा के पूर्ण स्वभाव का अंतर में विश्वास लाकर के आत्मा का यथार्थ श्रद्धान - सम्यग्दर्शन हुआ हो, वह। मैं ज्ञान-आनंद आदि अनंत शक्तियों से भरपूर पदार्थ हूँ - ऐसा प्रथम विश्वास आया तब अंतर में आत्मा का अनुभव हुआ। पूर्ण स्वभाव को ग्रहण करने से अंतर में विश्वास उत्पन्न होता है। जीव का विश्वास अनादि से वर्तमान पर्याय में है; परंतु जहाँ यह पर्याय है वहाँ ही पीछे गहरे, इसी के तल में समूची पूर्ण वस्तु विद्यमान है; जो अनंत अनंत अपरिमित शक्तियों का सागर है, उसका जिसे अंतर विश्वास आये और जो अंतर अनुभव में जाये उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। १७२.



किसीको ऐसा लगे कि मुनिराज को जंगल में अकेले-अकेले को कैसे सुहाता होगा ? अरे भाई ! मुनिराज तो निजानंद में झूलते हुए जंगल में भी परम सुखी हैं; वहाँ जगत का रागद्वेषजन्य कोलाहल नहीं है। आत्मा का परवस्तु के साथ मिलन ही नहीं है, इसलिए आत्मा पर के संबंध बिना स्वयमेव अकेला स्वयं स्वयं में परम सुखी है। आत्मा को परके संबंध से सुख प्राप्त हो - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं के ऐसे आत्मा को अनुभव करते हैं और उसे ही उपादेय जानते हैं। १७६.



ज्ञानी को अंतर में स्वसंवेदनज्ञान प्रस्फुटित हुआ वहाँ स्वयं को उसका वेदन आया, पीछे उसे अन्य कोई जाने या न जाने - उसकी कोई अपेक्षा नहीं। जैसे सुगंधित फूल खिलता है उसकी सुगंध अन्य कोई लेता है या नहीं उसकी अपेक्षा फूल को नहीं है, वह तो स्वयं स्वयं में ही सुगंध से खिला है; वैसे ही धर्मात्मा को स्वयं का आनंदमय स्वसंवेदन प्रगट हुआ, वह कोई अन्य के प्रदर्शन हेतु नहीं है; अन्य जाने तो स्वयं को शांति मिले - ऐसा प्रकार धर्मी को नहीं होता; वे तो स्वयं में अकेले-अकेले निज एकत्व में आनंदरूप परिणमन कर ही रहे हैं। १८६.



अहा ! आठ वर्ष का नन्हा-सा राजकुमार जब दीक्षा लेकर मुनि होता है तब वह वैराग्य का अवधूत दृश्य ! आनंद में लीनता ! जैसे नन्हे-से सिद्धभगवान ऊपर से पृथ्वी पर पधारे हों ! वाह रे वाह ! धन्य यह मुनिदशा !

ये नन्हे-से मुनिराज जब दो तीन दिनों में आहार के लिए निकलें तब आनंद में झूमते धीरे धीरे चलते हुए पधार रहे हों और योग्य विधि के मिलने पर जब वे अपने छोटे छोटे हाथों को अंजलिबद्धकर आहारग्रहण हेतु खड़े हों,अहा ! यह दृश्य कैसा होगा !

तत्पश्चात् ये आठ वर्ष के मुनिराज आत्म-ध्यान में स्थिर होकर केवलज्ञान प्रगट कर सिद्ध हो जायें ! - आत्मा की ऐसी सामर्थ्य है।

वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधरादि भगवान के समीप आठ आठ वर्ष के राजकुमारों द्वारा दीक्षा ग्रहण के वैसे प्रसंग बनते हैं।

१८९.



यथार्थ दृष्टि होनेके पश्चात् भी ज्ञानी, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति वगैरह के शुभ भाव में संयुक्त होता है; परंतु वह ऐसा नहीं मानता कि इससे धर्म होगा। सम्यग्दर्शन होनेके बाद स्थिरता में विशेष वृद्धि होने पर उसे व्रतादि के परिणाम आते हैं, परंतु वह उससे धर्म नहीं मानता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल शुद्ध पर्याय जितने जितने अंश में प्रगट होती है वह उसे ही धर्म मानता है। दया-पूजा-भक्ति वगैरह के शुभ परिणाम तो विकारी भाव हैं; उनसे पुण्य बंध होता है; लेकिन धर्म नहीं होता। १९३.



सम्यग्दृष्टि ज्ञातापने के कारण निश्चय से विरागी है, वह उदय में आये हुए कर्म को मात्र जान ही लेता है। ज्ञानी भोगोपभोग में होते हुए भी ऐसा जानता है कि राग व शरीरादि की समस्त क्रिया पर हैं, और स्वयं ज्ञातारूप से परिणमन कर रहा है न ! १९४.



ज्ञानी को देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजा, प्रभावना वगैरह के जैसे शुभ भाव होते हैं वैसे अज्ञानी को होते ही नहीं। १९५.



सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि अंतर के ज्ञानांदस्वभाव ऊपर है, क्षणिक रागादि ऊपर नहीं। उसकी दृष्टि में रागादि का अभाव होनेसे उसके (दृष्टि-अपेक्षा से) संसार कहाँ रहा ? राग रहित ज्ञानानंदस्वभाव

ऊपर दृष्टि होनेसे वह मुक्त ही है, उसकी दृष्टि में मुक्ति ही है; मुक्त स्वभाव ऊपर की दृष्टि में बंधन का अभाव है। स्वभाव ऊपर की दृष्टि बंधभाव को अपने में स्वीकारती नहीं, इसलिए स्वभावदृष्टिवंत समकिती मुक्त ही है। 'शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव' - शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा ज्ञानी खरेखर मुक्त ही है। २०१.



कोई जीव नग्न दिग्बर मुनि हो गया हो, वस्त्र का एक धागा भी उसके पास न हो, परंतु परवस्तु मुझे लाभकारी है - ऐसा अभिप्राय हो - तब तक, उसके अभिप्रायमें से तीन काल की एक भी वस्तु नहीं छूटी है। पर में एकत्वबुद्धि विद्यमान है, परवस्तु मुझे लाभप्रद है - जब तक ऐसा अभिप्राय है - तब तक, उसके भावमें से तीन काल व तीन लोक के अनंत पदार्थ छूटे नहीं हैं। २०७.



जैसे घोर निद्रामग्न व्यक्ति को अपने आसपास के जगत का भान नहीं रहता है; वैसे ही चैतन्य की अत्यंत शांति में स्थिर हुए मुनिवरो को जगत के बाह्य विषयों के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं होती; अंतर स्वरूपलीनतामें से बाहर निकलना रुचता नहीं; आसपास वाध-सिंह दहाड़ते हों तो भी उनसे भयभीत नहीं होते अर्थात् स्वरूपस्थिरता से जरा भी चलित नहीं होते। अहा ! धन्य यह मुनिदशा !

२११.



अहा ! मुनिदशा कैसी होती है उसका विचार तो करो ! छट्टे-सातवें गुणस्थान में झूलते ये मुनिराज स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिंग है और देह की नग्नदशा - वस्त्रात्र रहित निर्ग्रथदशा - यह उनका द्रव्यलिंग है। उन्हें अपवाद - व्रतादि का शुभराग आता है, लेकिन वस्त्रग्रहण या अधःकर्म, तादृश उद्देशिक आहार ग्रहण का भाव नहीं होता। अहा ! श्री ऋषभदेव

भगवान को मुनिदशा में प्रथम छ महिने का उपवास रहा तत्पश्चात् उन्हें आहार का विकल्प उत्पन्न होता परंतु मुनियोग्य विधिपूर्वक आहार नहीं मिलता जिससे वे आहार का विकल्प तोड़कर अंतर आनंद में लीन रहते थे। आनंद में रहना यही आत्मा का कर्तव्य है। २१४.



धर्मात्मा को अपना रत्नत्रयरूप आत्मा ही परम प्रिय है, संसार संबंधी अन्य कुछ प्रिय नहीं है। जैसे गाय को अपने बछड़े के प्रति व बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है ! वैसे ही धर्मी को अपने रत्नत्रयस्वभावरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेदबुद्धिपूर्वक परम वात्सल्य होता है। स्वयं को रत्नत्रयधर्म में परम वात्सल्य होनेसे उन्हें अन्य रत्नत्रयधर्मधारक जीवों के प्रति भी वात्सल्यभाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहता। २१६.



रागादि से भिन्न चिदानंदस्वभाव का भान और अनुभव हुआ वहाँ धर्मी को उसका निःसंदेह ज्ञान होता है कि अहो ! मुझे आत्मा का कोई अपूर्व आनंद का वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मामें से मिथ्यात्व का नाश हो गया। 'मैं समकिती हूँ या मिथ्यादृष्टि' - ऐसा संदेह जिसे है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है। २२०.



जो कोई आत्मा जड़कर्म की अवस्था को और शरीरादि की अवस्था को करता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता है, तन्मयबुद्धिपूर्वक परिणमन नहीं करता है परंतु मात्र ज्ञाता है यानी कि तटस्थ रहता हुआ - साक्षीरूप से ज्ञाता है, वह आत्मा ज्ञानी है। २२२.



जिसे राग का रस है - वह राग भले ही भगवान की भक्ति का हो या तीर्थयात्रा हो - वह भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनंदरस

से रिक्त है, रहित है और मिथ्यादृष्टि है। और जो चौथे गुणस्थानवर्ती समकिती है अर्थात् जिसने निज रस - आत्मा के आनंद का रस - का आस्वादन किया है, वह निजरस से ही राग से विरक्त है। धर्मी को असंख्य प्रकार के शुभ राग हो तो भी उसे राग का रस नहीं है। धर्मी को शुद्ध चैतन्य के अमृतमय स्वाद के सामने राग का रस विष तुल्य भासता है। २३०.



धर्मी को पर-सन्मुख उपयोग के वक्त भी सम्यग्दर्शन - ज्ञानपूर्वक जितना वीतराग भाव हुआ है उतना धर्म तो सतत वर्तता ही है; उपयोग जब स्वमें रहे तभी धर्म रहे और जब उपयोग पर-सन्मुख हो तब धर्म रहे ही नहीं - ऐसा नहीं है। २३१.



जिस धर्मात्माने निज शुद्धात्मद्रव्य को स्वीकार करके परिणति को स्व-अभिमुख किया वह प्रति क्षण मुक्ति की ओर गतिशील है, वह मुक्तिपुरी का प्रवासी हो गया है। अब 'मेरे अनंत संसार होगा?' - ऐसी शंका उसे उत्पन्न ही नहीं होती; उसे स्वभाव के बल से ऐसी निःशंकता है कि 'मेरी मुक्तदशा अब अल्प काल में ही खिल उठेगी।' २३५.



भरत चक्रवर्ती, रामचंद्रजी, पांडव वगैरह धर्मात्मा संसार में थे परंतु उन्हें निरपेक्ष निज आत्मातत्त्व का भान था। धर्मात्मा यह भलीभाँति समझते हैं कि अन्य को सुखी-दुःखी करना, मारना-जिलाना वह आत्मा के अधिकार में नहीं है; तिसपर भी अस्थिरता शेष है, जिसके कारण लड़ाई में जुड़ने वगैरह के पापभाव और अन्य को सुखी करने, जिलाने व भक्ति वगैरह के पुण्यभाव आते हैं। वे जानते हैं कि ऐसे भाव पुरुषार्थ की शिथिलतावश आते हैं। उन्हें ऐसी भावना का बल निरंतर वर्तता है कि 'मैं स्वरूप लीनता का पुरुषार्थ करके, अवशिष्ट राग

को टाल कर मोक्ष पर्याय प्रगट करूँगा।' २५५.



'आत्मा ही आनंद का धाम है, उसमें अंतर्मुख होने से ही सुख है' - ऐसा वाणी का रणकार जहाँ सुनाई पड़े वहाँ आत्मार्थी जीव का आत्मा अंदर से झनझना उठता है कि वाह ! यह भवरहित वीतरागी पुरुष की वाणी ! आत्मा के परम शांतरस को दर्शानेवाली यह वाणी निःसंदेह अद्भुत है, अश्रुतपूर्व है। वीतरागी संतों की वाणी परम अमृत है। भवरोग को नाश करने वाली यह अमोघ औषध है।

२५७.



वीतरागवाणीरूपी समुद्र मंथन से जिसे शुद्ध चिद्रूप-रत्न प्राप्त हुआ है, वह मुमुक्षु चैतन्य प्राप्ति के परम उल्लास में कहता है कि, अहो ! मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न मिला, अब मुझे चैतन्य सिवाय अन्य कोई कार्य नहीं, अन्य कोई वाच्य नहीं, अन्य कोई ध्येय नहीं, अन्य कुछ श्रवणयोग्य नहीं, अन्य कुछ भी प्राप्त करने जैसा नहीं, अन्य कुछ श्रेय नहीं व अन्य कोई आदेय नहीं है। २६३.



भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों भाईयों के बीच युद्ध हुआ। सामान्य व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि दोनों सम्यग्ज्ञानी, दोनों भाई और दोनों तद्भव मोक्षगामी..... फिर यह क्या ? परंतु लड़ते वक्त भी उन्हें यह भान है कि मैं इन सबसे भिन्न हूँ। वे युद्ध के ज्ञाता हैं; और जो क्रोध होता है उस क्रोध के भी ज्ञाता हैं। उन्हें निज शुद्ध, पवित्र आनंदघन-स्वभाव का भान वर्तता है, परंतु अस्थिरता है जिससे लड़ाई में खड़े हैं। भरत चक्रवर्ती जीत न सके तो अंत में उन्होंने बाहुबलीजी के ऊपर चक्र चला दिया। ऐसे में बाहुबलीजी को वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्य को ! अरे ! इस जीवन में राज्य के लिए यह क्या ? वस्तुतः ज्ञानी पुण्य से भी प्रसन्न नहीं

होते और पुण्य के फल से भी प्रसन्न नहीं होते। बाहुबलीजी विचारते हैं कि मैं चिदानंद आत्मा, परसे भिन्न हूँ, इसे यह योग्य नहीं, यह शोभा नहीं देता ! धिक्कार है इस राज्य को ! ऐसे वैराग्य स्फुरित होनेसे उन्होंने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली।

बिल्ली जिस मुँहसे अपने बच्चे को पकड़े उसीसे वह चूहे को भी पकड़ती है परंतु 'पकड़-पकड़ में फर्क है,' वैसे ज्ञानी व अज्ञानी की क्रिया एक समान दिखलाई पड़े परंतु दोनों के भाव में भिन्नता होती है। २६९.



मुनि को कर्मप्रक्रम नहीं होता - मुनि अपने जिम्मे कोई कार्य नहीं लेते। 'पाठशालाका ध्यान रखना पड़ेगा; रकम उगाहने हेतु तुमे जाना पड़ेगा; तीर्थहेतु रकम उगाहना पड़ेगा।' - ऐसे किसी भी कार्य को मुनि अपने जिम्मे लेते ही नहीं। मुनि किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी रखते ही नहीं हैं। २७२.



मुनिराज को चलते-फिरते, खाते-पीते चैतन्यपिण्ड जुदा पड़ जाता है और वे अतीन्द्रिय आनंदामृतरस का वेदन करते हैं। उन्हें क्षणभर निंद का झोका आता है व क्षणभर में जग जाते हैं और जगने पर अप्रमत्तध्यान में आ जाते हैं, सहजरूप में स्वरूप लीन हो जाते हैं। - इस प्रकार से मुनिराज बारंबार प्रमत्त - अप्रमत्तदशा में झूलते रहते हैं। मुनिराज की ऐसी निद्रा होती है; वे सामान्य मनुष्य की तरह घन्टों के घन्टों निद्रा में खर्राटे नहीं भरते। मुनिराज छट्टे गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त से ज्यादा समय रहते ही नहीं हैं। मुनिराज को पिछली रात्रिमें क्षणभर के लिए निद्रा का झोका आ जाता है, इसके सिवाय उन्हें विशेष निद्रा ही नहीं आती, उनकी ऐसी सहज दशा है। २८३.



स्वभाव के मार्ग से सत्य आता है और अज्ञान के मार्ग से असत्य

आता है। अज्ञानी चाहे जहाँ जाये या चाहे जहाँ मौजूद हो परंतु 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' 'मैं इसकी तुलनामें विशेष हूँ,' 'मुझे इससे अधिक आता है' इत्यादि प्रकार के भाव उसे आये बिना नहीं रहते। अज्ञानी में साक्षीरूप से रहने की क्षमता नहीं है।

ज्ञानी को चाहे जैसे भाव में, चाहे जैसे प्रसंग में साक्षीरूप से रहने की क्षमता है; वह सर्व प्रकार के भावों के बीच साक्षीरूप से रह सकता है। अज्ञानी को जहाँ हो वहाँ 'मैं' और 'मेरा' किया होता है' ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी सर्वसे भिन्न हो चुका है और अज्ञानी सर्वसे चिपका हुआ है। २८५.



[* 'परमागमसार'में से उद्धृत रत्न]

आत्मा को अविरत (चौथे) गुणस्थान में ही प्रथम प्रत्यक्ष स्ववेदन होना अनिवार्य है, क्योंकि उसमें रागादिकी अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये उसे वीतराग अनुभूति कहते हैं। ४.



चौथे गुणस्थान में विषय-कषाय के परिणाम होनेपर भी सम्यग्दर्शन को बाधित नहीं करते। और सम्यग्दर्शन के अभाव में अनंतानुबंधी आदि कषाय की मंदता होनेपर भी मिथ्यात्व का पाप बंध करता है, क्योंकि उसे स्वभाव का आश्रय नहीं होता है। किसी (सम्यग्दृष्टि) को (अप्रत्याख्यान) कषाय की बहुत तीव्रता होनेपर भी उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। किसी को बारह अंग का ज्ञान हो उससे सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो व किसीका क्षयोपशम अल्प हो तो सम्यग्दर्शन में निर्मलता न्यून हो - ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन के परिणाम आत्मा के आश्रय से स्वतंत्र प्रकट होते हैं। विषय-कषाय के परिणाम सम्यग्दर्शन को बाधित नहीं करते परंतु विशेष स्थिरता (निर्मलता) नहीं हो सकती है। ३६.



नय श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है। प्रमाणज्ञान को प्रामाणिकता तब और तो ही प्राप्त होती है कि जब अंतरदृष्टि में विभाव और पर्याय के भेदों से रहित शुद्धात्मद्रव्यरूप ध्रुव की श्रद्धा के अवलंबन की

* पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी के विविध आगमों पर हुए प्रवचनोंमें से चुने हुए १००८ रत्नों का संकलन।

उग्रता निरंतर वर्तती हो। ज्ञानी को ध्रुवस्वभाव के अबलंबन का बल सदैव वर्तता होनेसे उसका ज्ञान सम्यक् प्रमाण है। ५१.



शुद्ध चैतन्यध्रुव के ध्यान से जिसे सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे जीव को ऐसी पर्यायरूप योग्यताएँ होती हैं व उनका ज्ञान भी होता है। परंतु उन-उन धर्मों के ज्ञान से अथवा उनके अवलंबन से सम्यग्दर्शन होता है - ऐसा नहीं है। ऐसे विविध धर्मों के ज्ञान होनेपर साधकजीव को त्रिकाल चैतन्यमूर्तिध्रुव का - द्रव्यस्वभाव का ही अवलंबन होता है। ५२.



प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि भी भयभीत होता दिखता है और वह उसका उपाय भी करता है न ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि अंतर में तो निर्भय ही है; बाह्य में भयप्रकृति में जुड़ने से तनिक अस्थिरतारूप भय दिखता है तो भी अंतरस्वरूप में तो निर्भय ही है जिससे वह इहलोक-परलोक आदि सात प्रकार के भयों से रहित - निर्भय है। ३५.



सम्यग्दृष्टिने शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया उसके पश्चात् (उसे ऐसी भावना रहती है कि) वह एक क्षण के लिए भी छोड़ने योग्य नहीं। परमात्मा के पहलू में आने के बाद एक क्षण भी परमात्मा का पहलू छोड़ने योग्य नहीं और पुण्य-पाप के पहलू में जाना योग्य नहीं। एक क्षण भी शुद्धात्मा को विस्मृत करना योग्य नहीं। राग-क्रिया कभी भी ग्रहण करने लायक नहीं और शुद्धात्मा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं। अरे ! जिसे राग का रंग चढ़ गया है उसे परमात्मा का रंग कैसे चढ़े ? और जिसे परमात्मा का रंग चढ़ा है उसे राग का रंग कैसे चढ़े ? अभी सम्यग्दृष्टि को राग होता तो है परंतु राग का रंग नहीं चढ़ता और शुद्धात्मा का रंग एक समय मात्र

भी नहीं उतरता। सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रिय सुख का अनुभव धाराप्रवाहरूप से होता है, यही इसकी महत्ता है। ८१.



जैसे पुत्र में पिता का प्रतिभास आता है वैसे ही मोक्षमार्गी मुनियों में वीतरागी जिनभगवान का प्रतिभास - वीतरागता का प्रतिभास झलकता है, मात्र शांत....शांत.....वीतराग... अकषायभाव ही (तैरता) है।... ८५.



सम्यग्दृष्टि को राग या दुःख नहीं - ऐसा तो, दृष्टि की प्रधानता से कहा है। परंतु पर्याय में जितना आनंद है उसे भी ज्ञान जानता है, और जितना राग है उतना दुःख भी साधक को है - ज्ञान वह भी जानता है। पर्याय में राग है, दुःख है - उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणाज्ञानमें भी भूल है। सम्यग्दृष्टि को दृष्टि का बल बतलाने के लिए कहा है कि उसे आस्रव नहीं; परंतु जो आस्रव सर्वथा न हो तो मुक्ति होनी चाहिए। ८८.



स्वयं में जो गुण न हों व अन्य कोई उस गुण को बतलाए या कहे कि तुम ऐसे गुणी हो, तब ज्ञानी को ऐसा लगता है कि मुझ में यह गुण नहीं है और यह मुझ में ऐसा गुण बतलाता है तो वह, मुझ पर आरोप करता है। पर अज्ञानी की, स्वयं में गुण न होनेपर भी, ऐसी भावना रहा करती है कि 'मुझे कोई गुणी माने तो अच्छा' - यह उसका अज्ञान है। १०८.



निर्विकारी आनंद सहित जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्दृष्टि का क्षयोपशमज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन एवम् आत्म-अनुभव की स्थितिरूप पर्याय में संपूर्ण आत्मा नहीं आता, परंतु समस्त शक्तियाँ उस पर्याय में एकदेश प्रकट होती हैं। तेरा आत्मा तुझे किस प्रकार जाननेमें आये ? - कि, आनंद की अनुभूति सहित स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा

जानने में आये - ऐसा है। जब अनंत शक्तियाँ पर्याय में एक अंश प्रकट होती हैं, तब आत्मा जाना जाता है। १२१.



आत्मा को जाननेवाला ध्यातापुरुष - धर्मीजीव - जिसको स्वसंवेदन आनंदानुभूति सहित का एक अंश ज्ञान प्रकट हुआ है - ऐसा ध्यानी-ज्ञानी, उस प्रकट दशा का ध्यान नहीं करता। अनुभव की जो पर्याय है वह एकदेश प्रकट पर्यायरूप है, फिर भी ध्याता पुरुष - ध्येय का ध्यान करनेवाला पुरुष उस प्रकट पर्याय का ध्यान नहीं करता।

धर्मी किसका ध्यान करता है ? - धर्मी जीव को सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकट होनेपर भी वह उसका ध्यान नहीं करता, तो किसका ध्यान करता है ?

- कि एक समय की पर्याय के पीछे विराजमान सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध, पारिणामिकभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य का ध्यान करता है।

सम्यग्दृष्टि का ध्येय क्या ? सम्यग्दृष्टि धर्मी का विषय क्या ? - कि त्रिकाली आत्मा, जो सकल निरावरण एक अखण्ड वस्तु ही इनका विषय है। १२२.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि का उपयोग परमें हो - क्या वह तब भी स्वप्रकाशक है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि का उपयोग परमें हो तब भी (ज्ञान) स्वप्रकाशक है। परंतु उपयोगरूप परप्रकाशक होने के समय उपयोगरूप स्वप्रकाशक नहीं होता उपयोगरूप स्वप्रकाशक हो तब उपयोगरूप परप्रकाशक नहीं होता। लेकिन ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक ही है। १५८.



प्रश्न :- ज्ञानी को दुःख का ज्ञान होता है या वेदन होता है ?

उत्तर :- ज्ञानी को दुःख का ज्ञान होता है और वेदन भी होता

है। जैसे आनंद का वेदन होता है वैसे ही जितना दुःख है उतना दुःख का वेदन भी है। १६४.



जो विकल्प उठते हैं उन्हें धर्मी जानता है, पर वह उन विकल्पों को करता नहीं है। विकल्प संबंधी जो ज्ञान होता है उसका भी कर्ता विकल्प नहीं। राग होनेपर भी राग के कारण ज्ञानी को राग संबंधी ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। राग और ज्ञानी के ज्ञान में ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; राग उस ज्ञान का कर्ता नहीं है। १६६.



जब जीव आनंद स्वभाव का अनुभव करने में समर्थ हुआ तब से समस्त जगत का साक्षी हो गया। पर वस्तु मेरी है। - ऐसी दृष्टि छूटने से वह उसका साक्षी हुआ है। और सकल पर द्रव्यों का जाणनशील हो गया है। अरे ! परमात्मा हो तो भी मैं तो उसका जाननेवाला हूँ और स्त्री-पुत्रादि हों उनका भी मैं जाननेवाला हूँ, वे कोई मेरे नहीं। मेरा क्या है ? - कि 'ज्ञान और आनंदस्वरूप वह मैं हूँ' इस प्रकार निज वस्तु का स्वयं के द्वारा अनुभव करता है और निज वस्तु से भिन्न वस्तुओं का ज्ञाता रहता है। १७३.



साधक जीव पर द्रव्यरूप द्रव्यकर्म, पर द्रव्यरूप भावकर्म - दया-दान आदि भावकर्म और शरीरादि के प्रति उदासीन है; क्योंकि शुद्धस्वरूप का अनुभव होनेसे उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है। जबसे ध्रुव को ध्यान में लेकर आत्म-अनुभव हुआ तबसे वह जीव पूर्णानंद स्वरूप को उपादेय जानने से रागादिरूप उठनेवाले विकल्पों के प्रति उदासीन है। १७४.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि को शुभभाव आते हैं वह उनमें उसी समय उदासीन है कि शुभभाव से हटकर आत्मोन्मुख होनेपर उदासीन है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि को शुभभाव आते हैं वह उनमें उसी समय उदासीन है और उनसे हटकर आत्मोन्मुख होने पर तो वीतरागता ही है। अतः वह शुभभाव के समय भी उदासीन है। १८६.



प्रश्न :-सम्यग्दर्शन होनेके बाद वास्तवमें ऐसा खयाल आता है न कि विकारभाव दुःखरूप हैं ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन होनेके बाद ही विकार का दुःख यथार्थरूप से भासित होता है; परंतु उसके पूर्व भी जिज्ञासु को इतना तो खयाल में आ जाता है कि पर-ओर झुकनेवाली वृत्ति में आकुलता होती है, जिस कारण वह विकार से हटकर स्वभाव की ओर ढलता है।

१८७.



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन का बहुत-बहुत महत्त्व बतलाया जाता है, इसका कारण क्या ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन में पूर्ण परमात्मा प्रतीति में आ जाता है - उसके महत्त्व का क्या कहना !! पूर्ण प्रभु प्रतीति में आ गया, फिर बाकी क्या रहा ? १८९.



आत्म-अनुभव के बिना सब कुछ शून्य है। लाख कषाय की मंदता करो या लाख शास्त्र पढो, किन्तु अनुभव बिना सब कुछ व्यर्थ है। यदि कुछ भी न सीखा हो, पर अनुभव किया हो तो उसने सब कुछ सीख लिया; उसे बात करना भले ही न आए तो भी वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। १९४.



राग होनेपर भी साधक के हृदय में सिद्ध भगवान टंकोत्कीर्ण रहते हैं। २०३.



जिनके जन्म-मरण की गांठ (भेदित) नहीं हुई उन्होंने जीवन में कुछ भी नहीं किया। और जिन्होंने गृहस्थाश्रम में भी जन्म-मरण की ग्रंथी को भेद दिया उन्होंने सब कुछ कर लिया, सिद्ध प्रभु तो उनके हाथ आ गये हैं। २०६.



जिन्होंने स्वयं के पर्यायअंश से दृष्टि हटा कर द्रव्य पर दृष्टि की वे अन्य द्रव्य को भी इसी प्रकार देखते हैं अर्थात् अन्य पदार्थों को भी उनकी पर्याय से नहीं देखते बल्कि उन्हें द्रव्यरूप से ही - वस्तुरूप से ही - अखण्ड देखते हैं। २०९.



दृष्टि स्वभावरूप परिणत हुई की हुई, फिर उसका स्मरण क्या करना ? रुचि का तो परिणमन हुआ सो हुआ, वह तो सदा ही रहनेवाला है। 'मैं निःशंक हूँ' इस भाव का स्मरण नहीं करना पड़ता। (उपयोग) शुभाशुभ में हो या आत्म-अनुभव में, (दृष्टि का) सम्यक् परिणमन तो जैसा है वैसा ही रहता है। २१२.



धर्मी का चित्त आत्मा के सिवा अन्य कहीं नहीं रमता। वे संसार में सब कुछ ऊपरी नजर से ही देखते हैं, पर उनका चित्त तो कहीं भी रमता नहीं। मक्खी का चित्त शक्कर के स्वाद में इतना आसक्त रहता है कि पंखोंपर दबाव होनेपर भी वह वहाँ से हटती नहीं। वैसे ही धर्मी का चित्त आत्मा में रमा रहता है। प्रतिकूलता आने पर भी - बाहरी दबाव आने पर भी, आत्मा से उनका चित्त हटता नहीं। दुनिया को भले ही धर्मी मूर्ख लगे - पागल लगे। २२१.



क्या पुण्य-परिणामरूपी कार्य सर्वज्ञ को सौंपा जाय ? - चक्रवर्ती को आँगन बुहारने का काम नहीं सौंपा जाता। आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है - जिसको ऐसा भान हुआ, उसे पुण्य के कार्य में कर्ताबुद्धि नहीं

होती। २२३.



सम्यक्त्वी की पूरी दुनिया से रुचि उड़ गई है, उसे एक आत्मा में ही रुचि है। वह एक आत्मा को ही विश्रामस्थल मानता है। एक आत्मा की ओर ही उसकी परिणति रह-रह कर जाती है। २२४.



अन्य जीव की निंदा करने का भाव तो आस्रव है। और कागज में हुई शब्द रचना पुद्गल की पर्याय है, इनमें लिखनेवाला जीव कहीं भी सम्बद्ध नहीं है। और स्वयं को अस्थिरता से उठनेवाले विकल्प भी आत्मा में कहाँ हैं, ये भी आस्रव हैं। - इस प्रकार ज्ञानी, सामने चाहे जैसा विरोधी जीव हो - उसे भी पूर्ण आत्मरूप में ही देखते हैं, यही वीतरागी समता है। ऐसे ज्ञान बिना सहज समता होना संभव ही नहीं। २३७.



हे भगवान ! आपने जो चैतन्यभण्डार खोल दिया है - उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्ती का वैभव भी तृणवत न लगे ? आहा ! अंतर-अवलोकन में तो अमृतरस झरता है; और बाह्य अवलोकन में तो विष-सा अनुभव होता है। २४४.



भगवान की देशना होती है - पर उससे शासन का क्या होता है व किसको लाभ होता है, इस ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी विकल्प उठते हैं और वाणी निकलती है, पर वे यह नहीं देखते कि किसको लाभ हुआ, कितना लाभ हुआ ? - वे तो निजात्मा को ही देखते हैं। २५३.



सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अति सूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभाव के बीच की संधि में ज्ञानपर्याय का प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य

भिन्नता करता है। खयाल में आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनों को छेदता है। बुद्धिगम्य छेदन याने कि, खयाल में आ सके इस प्रकार दोनों में भिन्नता करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की और सम्यग्दर्शन को कायम रखने के मार्ग की यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुन कर विचार करें; और पीछे प्रयत्न करें। २५८.



सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुवस्वभावमें से शुद्धता प्रकट होती है। उसको आत्मा शुद्धरूप से उल्लसित हुई - ऐसा कहने में आता है। जैसे अनादि अज्ञानवश 'पुण्य-पाप भावरूप मैं हूँ' ऐसे मिथ्यात्व का अनुभव, दुःख का अनुभव है; वैसे ही ज्ञानी को अतीन्द्रिय आनंदअमृत का भोजन है। २७१.



प्रश्न :- ज्ञानीकी प्ररूपणा में असत् की प्ररूपणा होती है ?

उत्तर :- नहीं; ज्ञानी की वाणी में असत् की प्ररूपणा नहीं होती। ज्ञानी को अस्थिरता होती है, पर प्ररूपणा में असत् कथन नहीं आता। 'व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है; राग से लाभ होता है अथवा राग से धर्म होता है; एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य करता है' - ऐसी प्ररूपणा को असत् प्ररूपणा कहते हैं। २७२.



प्रश्न :- अभेदस्वरूप आत्मा की अनुभूति होनेके बाद व्रतादि करने से क्या लाभ है ?

उत्तर :- शुद्धात्माका अनुभव होनेके पश्चात् पाँचवें और छठे गुणस्थान में उस-उस प्रकार के शुभराग आए बिना नहीं रहते। वे शुभराग बंध के कारण हैं और हेय हैं - ज्ञानी ऐसा जानते हैं। शुद्धता की वृद्धि-अनुसार कषाय घटते जानेसे व्रतादि के शुभराग आए बिना रहते

ही नहीं। - ऐसा ही स्वभाव है। २७६.



प्रश्न :- द्रव्यलिंगी को शुभ में रुचि है या अशुभ में भी है ?
उत्तर :- द्रव्यलिंगी को शुभ में रुचि है। २७९.



प्रश्न :- काया और कषाय में एकत्व है - क्या द्रव्यलिंगी को इसका खयाल आता है ?

उत्तर :- उसे खयाल नहीं आता।

प्रश्न :- तो उसे धारणाज्ञान भी सही नहीं हुआ ?

उत्तर :- तत्त्व की जानकारी का धारणाज्ञान तो उसे सही है, पर स्वयं कहाँ अटका है - यही उसके ज्ञान में नहीं आता; वह (अपनी) कषाय की अतीव मंदता को स्वानुभव मानता है। २८०.



'काल नय की अपेक्षा जिनकी सिद्धि समय पर आधारित है अर्थात् सम्यग्दर्शन - सम्यक्चारित्र - केवलज्ञान आदि जिस समय प्रकट होनेवाले हैं, उसी समय प्रकट होते हैं। जिस समय जो होना है, उसी समय वह होता है परंतु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुरुषार्थ बिना हो जाता है।

काल नयसे ज्ञान करनेवाले साधक की दृष्टि काल ऊपर नहीं, वरन् स्वभाव पर होती है। अतः वे काल नयसे जानते हैं कि जिस समय चारित्र प्रकट होना है उसी समय प्रकट होगा, जिस काल केवलज्ञान होना है उसी समय प्रकट होगा।

किसी मुनिको लाखों वर्षों तक चारित्र पालने करने पर भी केवलज्ञान प्रकट होने में समय लगता है। किसी मुनि को अल्प काल में ही केवलज्ञान हो जाता है। अतः दीर्घ काल तक चारित्र पालन करनेवाले मुनि को अधीरता नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि केवलज्ञान होगा ही, सो अपने स्वकाल में ही प्रकट होगा। २८२.



सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि 'शुद्ध निश्चय नय से मैं मोह-राग-द्वेष रहित हूँ' इससे सम्यग्दृष्टि को कोई ऐसा नहीं लगता कि शुभ और अशुभ दोनों समान हैं अतः अशुभ भले ही हों। सम्यग्दृष्टि अशुभ से छूटने हेतु वांचन, श्रवण, विचार, भक्ति आदि करता है। प्रयत्न करके भी अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्त हो - शास्त्रमें भी ऐसा उपदेश है। परमार्थदृष्टि से शुभ और अशुभ समान हैं, फिर भी स्वयं की भूमिकानुसार अशुभ से छूटकर शुभ में प्रवृत्त होनेका विवेक रहता है और वैसे ही विकल्प भी आते हैं। २८९.



संत कहते हैं कि हम हमारे स्वघर में आए हैं। अब हम अनुकूलता में बर्फ की तरह गलनेवाले नहीं और प्रतिकूलता की अग्नि में जलनेवाले नहीं। हमारा ज्ञान-विलास प्रकट हुआ है उसमें हम सोये सो सोये, अब हमें उठाने में कोई भी समर्थ नहीं है। २९६.



अहो ! सम्यग्दृष्टि जीव को छः छः खण्ड के राज्य में संलग्न होनेपर भी, ज्ञान में तनिक भी ऐसी मचक नहीं आती कि ये मेरे हैं; और छियानवे हजार अप्सरा जैसी रानियों के वृंद में रहने पर भी उनमें तनिक भी सुखबुद्धि नहीं होती। अरे ! कोई नरक की भीषण वेदना में पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनंद के वेदन की अधिकता नहीं छूटती है। इस सम्यग्दर्शन का क्या माहात्म्य है - जगत के लिए इस मर्म को बाह्य दृष्टि से समझना बहुत कठिन है। २९९.



जिसके ज्ञान में तीन काल और तीन लोकको जाननेवाले भगवान बैठे हों उसके भव होता ही नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान सर्वज्ञस्वभाव में ढला है। ३२२.



भगवान जिसके हृदय में विराजते हैं, उसका चैतन्य शरीर राग-द्वेषरूपी जंग से रहित हो जाता है। ३२५.



जैसे खीर के स्वाद के आगे लाल ज्वार की रोटी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही जिन्होंने 'प्रभु आनंदस्वरूप है' ऐसा स्वाद लिया है, उन्हें जगत की किसी भी वस्तु में रुचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती। निज स्वभाव के सिवाय जितने विकल्प और बाह्य ज्ञेय हैं उन सभी का रस टूट जाता है। ध्यान में बैठते हैं तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एक होनेसे आनंद का रस आता है - इतना अवकाश रखकर राग में - बाहर में आते हैं। ३५५.



जब यह आत्मा स्वयं राग से भिन्न होकर अपने में एकाग्र होता है तब केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति उदित होती है। और दर्शन-ज्ञानमय स्वभाव में अस्तित्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसमें एकत्वगतरूप से वर्तित हो तभी वह आत्मा स्व समय में प्रतिष्ठित हुआ - अतः उसे आत्मा कहा। ३५६.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि को उपयोग में शुद्ध आत्मा का विचार चलता है, वही शुद्ध उपयोग है न ?

उत्तर :- नहीं। शुद्ध आत्मा का विचार चले वह शुद्ध उपयोग नहीं है; यह तो राग मिश्रित विचार है। शुद्ध आत्मा में एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो - वह शुद्ध उपयोग है। जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता का भेद छूट कर केवल अभेदरूप 'चैतन्य-गोला' अनुभव में आता है - वह शुद्ध उपयोग है। ३६०.



स्वरूप की लीला जात्यांतर है। मुनि की दशा अलौकिक जात्यांतर है। मुनिराज स्वरूप-उपवन में लीला करते-करते, याने कि स्वरूप-

उपवन में रमते-रमते कर्मों का नाश करते हैं। दुःखी होते नहीं पर 'स्वरूप में रमते-रमते' कर्मों का नाश करते हैं - ऐसी उनकी जात्यांतर दशा है - लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूप में ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अंतर की आनंद-क्रिड़ा में रमने लगे उनकी लीला जात्यांतर है।

अरे ! सम्यग्दृष्टि की लीला भी जात्यांतर है। कोई सम्यग्दृष्टि युद्ध में, हों, वे वहाँ से घर लौट कर ध्यान में बैठते ही निर्विकल्प आनंद का अनुभव करते हैं। अरे ! कभी तो लड़ाई के प्रसंग में हों तो भी समय मिलते ही ध्यानस्थ हो जाते हैं। अरे ! संसार के अशुभ-भावों में पड़े हों तो वहाँ से भी खिसक कर दूसरे क्षण ही ध्यान में बैठते ही निर्विकल्पता हो जाती है। 'यह वस्तु अंतर में मौजूद है' उसके माहात्म्य के जोर से निर्विकल्पता हो जाती है। आहा हा ! जिसे राग से भिन्नता हुई, स्वरूप से एकता हुई, आनंद के खजाने के ताले खुल गये हैं, वह अशुभभाव के प्रसंगमें से खिसक कर ध्यान में निर्विकल्प आनंद में मग्न हो जाता है। - यह सब चमत्कार पूर्णानंद के नाथ को जानने का है, सम्यग्दर्शन में पूर्णानंद के नाथ के प्रकट होने का है। सम्यग्दर्शन में पूर्णानंद का संपूर्णतः कब्जा हो जाता है, यह उसकी जात्यांतर लीला है।

अरे ! कोई जीव तो निगोदमें से निकलकर आठ वर्ष की आयु में सम्यग्दर्शन पा, तुरंत मुनि हो, स्वरूप में एकाग्र होते ही अंतर मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अंतर मुहूर्त में देह छूटते ही सिद्ध हो जाते हैं।

आहा हा ! स्वरूप की जात्यांतर लीला तो कोई अद्भुत है। परंतु सम्यग्दर्शन बिना व्रत करे, तप करे, घर-बार छोड़कर मुनि हो जाये तो भी, इसकी लीला जात्यांतर नहीं होती; संसार की लीला थी और वही की वही रहती है। ३६३.

जिन्हें आत्मा के स्वरूप की रुचि हुई है उन्हें शुभराग आते हैं, परंतु उन्हें राग से विरक्तिरूप वैराग्य होता है और आत्मा की अस्ति-ओर का शांत उपशमरस होता है। राग होने पर भी राग से आंशिकरूप से पृथक् रहता है - इतना उपशमरस है। जिन्हें आत्मा की सच्ची रुचि नहीं उनके शुभभाव शुष्क और चंचल होते हैं। जिन्हें निज स्वभाव का आश्चर्य और महिमा न आये व अन्य पदार्थों का आश्चर्य और महिमा आये उनके शुभभाव रूक्ष और चंचलतावाले होते हैं। ३७६.



ज्ञायकस्वभाव का जहाँ अंतर में भान हुआ, जाननेवाला जग उठा कि 'मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूँ' ऐसा जब अनुभव में आया तब, ज्ञान-धारा को कोई नहीं रोक सकता। चाहे जैसा रोग हो, पर वह तो शरीर में है; वह आत्मा में कहाँ है ? रोग है उसे आत्मा ने जाना है, परंतु आत्मा ने उसमें मिलकर नहीं जाना है। ३८७.



सम्यग्दृष्टि को तो बाहर के विकल्पों में आना रुचता ही नहीं। यहाँ तो विशेष दशावालों की बात ली है कि महा ज्ञानी अंतर में जम गये हैं। अहो ! वह धन्य दिवस कब आये कि मुझे बाहर आना ही न पड़े - ज्ञानी की ऐसी भावना होती है। समकिति को ऐसी दशा की भावना होती है; पर मैं दुनिया को समझाऊँ आदि भावना नहीं होती। ४०६.



स्त्री-पुत्र-पैसा-आबरू आदि में या राग की मंदता में सुख है - जो ऐसा मानते हैं, उन्होंने जीव को मार डाला है ; क्योंकि उनका अभिप्राय ऐसा है कि मैं आनंदस्वरूप नहीं, परंतु मुझे मेरा आनंद बाहर से मिलता है। चैतन्य - परिणति से जीना वही जीव का जीवन है; अन्य सब तो चलते मुर्दे हैं। पामर ! पर वस्तु में दृष्टि लंबाकर

सुख मानते हैं, परंतु 'प्रभु तू दुःखी है।' जहाँ आनंद का धाम - आनंद का ढेर है उसे जिसने प्रतीति और ज्ञान में लिया उसे ज्ञान और आनंदरूप परिणति होती है - यही वास्तविक जीवन है। ४०७.



जो निर्मल भाव का पिण्ड है, ऐसे चैतन्य की जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसे दया-दान आदि के राग की व उनके फल की महिमा नहीं होती। जिन्होंने दया-दान आदि के राग की व अनुकूल फल की महिमा है उन्हें सुख समूह - आनंदकंदरूप आत्मा की महिमा नहीं आती। जिनको व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग की, देव-शास्त्र-गुरु की अंतर में महिमा वर्तती है उनको - निमित्त का जिसमें अभाव है राग का जिसमें अभाव है - ऐसे स्वभाव-भाव की महिमा नहीं है, जिससे उन्हें पर्याय में आनंद नहीं आता। जिनको शुभभाव से लेकर, बाहर में कुछ भी अधिकता, आश्चर्यता और महिमा (लगती) है - उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता। ४२५.



शुभराग होना - यह कोई विशेषता नहीं। क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ भाव हुआ ही करते हैं। अरे ! निगोद के जीव को भी, जो अनादि से बाहर आया ही नहीं और अनंत काल तक भी बाहर नहीं आयेगा, क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ राग आया करते हैं - यह कोई विशेष बात नहीं। धर्मी को ज्ञानधारा प्रति क्षण चला करती है। इस ज्ञानधारा का चलना - यही विशेष बात है। इस ज्ञानधारा से ही संसार-भ्रमण से छुटकारा मिलता है। ४२९.



प्रश्न :- निश्चय (शुद्ध परिणमन) के साथ जो उचित (भूमिका अनुसार का) राग वर्तता है, उसे क्रोध कहा जाए क्या ?

उत्तर :- नहीं। यहाँ 'समयसार' गाथा ६९-७०-७१ में कहा है कि, जिसे आत्मस्वभाव की रुचि नहीं - अनादर है, उसके रागभाव

को क्रोध कहा है याने कि मिथ्यात्व सहित के रागादि भाव को क्रोध बतलाया है। ज्ञानी को अपनी अस्थिरतारूप राग का ज्ञान होता है। ज्ञान के परिणमनवाले ज्ञानी को आनंदरूप आत्मा रुचता है, आत्मा का एहसास होता है, अतः उसके राग की रुचिरूप क्रोध होता ही नहीं - जिससे क्रोध (स्व-रूप) मालूम नहीं होता।

अज्ञानी को दुःखरूपभाव - रागभाव रुचता है, आनंदरूपभाव नहीं रुचता - जिससे उसे क्रोधादि ही मालूम होते हैं, आत्मा का एहसास नहीं होता। आत्मा अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है उसकी जिसे रुचि नहीं व पुण्य के परिणाम की रुचि है - उसे आत्मा का अनादर है - जिससे उसे स्वरूपप्रति का क्रोधी कहा है। ४३१.



'आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है' - ऐसा जिसके ज्ञान में आया, वह ज्ञानी जीव जीवन में स्थिर हो जाता है - यह प्रत्याख्यान है। जहाँ ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ वहाँ विशेष आनंद की धारा बहती है - यही प्रत्याख्यान है। स्वयं के ज्ञान में राग की अभावरूप अवस्था अर्थात् उग्र आनंद की अवस्था ही प्रत्याख्यान है। ४३५.



देह की स्थिति तो मर्यादित है ही, कर्मकी स्थिति भी मर्यादित है और विकार की स्थिति भी मर्यादित है। स्वयं की पर्याय में जो कार्य होता है वह भी मर्यादित है। अंतर में याने कि स्वभाव में मर्यादा नहीं होती। प्रभु ! वस्तु-स्वभाव ज्ञान-स्वभाव आदि त्रिकाली स्वभाव की मर्यादा ही नहीं। धर्मी की दृष्टि उस अमर्यादित स्वभाव पर होती है। धर्मी बाह्य कार्य में संलग्न दिखता है पर (वास्तवमें) वह तो अमर्यादित स्वभाव में झूलता है; उसकी दृष्टि वहाँ जम जाती है। ४४१.



सम्यग्दृष्टि तो जीव-अजीव-आस्रव-बंध आदि के स्वांगों को

देखनेवाले हैं। रागादि आस्रव-बंध के परिणाम होते हैं, पर सम्यग्दृष्टि उन स्वांगों के देखनेवाले ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि इन स्वांगों को कर्मकृत जानकर शांतरस में ही मग्न रहते हैं। शुभाशुभभाव आते हैं, पर सम्यग्दृष्टि उन्हें कर्मकृत स्वांग जानकर उनमें मग्न नहीं होते। मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव के भेद को नहीं जानते जिससे वे कर्मकृत स्वांगों को ही सत्य (निजरूप) जानकर उनमें मग्न हो जाते हैं; रागादि भावों को कर्मकृत भाव होनेपर भी अपने भाव जानकर, उनमें लीन हो जाते हैं। धर्मी जीव, ऐसे अज्ञानी जीवों को आत्मा का यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, भेदज्ञान करा कर, शांतरस में लीन कर - सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। ४४८.



ज्ञायक ध्रुव शुद्ध तत्त्व - उसका ज्ञान कर, उसकी प्रतीति कर, उसमें रमण कर, एक आत्मराम होकर क्या अनुभव करता है ? सो कहते हैं - सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानकर, उसकी प्रतीति कर, स्वरूपाचरण कर, ऐसा अनुभव करता है कि 'मैं तो चैतन्य मात्र ज्योति हूँ,' 'शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयं ज्योति, सुख-धाम, मैं हूँ।' 'चैतन्य ज्ञान-दर्शन मात्र ज्योति हूँ, मैं रागादिरूप बिल्कुल नहीं हूँ।' धर्मी स्वयं को चैतन्य मात्र-ज्योतिरूप आत्मा मानते हैं, अपने को रागरूप नहीं मानते। ४५२.



ज्ञानी उसे कहें कि जो त्रिकाली - ज्ञायक को पकड़े व उसकी पर्याय में वीतरागता प्रकट होनेपर भी पर्याय में रुकता नहीं; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली ध्रुवपर ही टिकी है। धर्मदशा प्रकट हो - निर्मलपर्याय प्रकट हो परंतु ज्ञानी इन पर्यायों में नहीं रुकता। ४५४.



त्रिकाली-ध्रुव आत्मद्रव्य को पकड़ने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, उसे पकड़ने पर ही चारित्र होता है, उसे पकड़ने पर ही केवलज्ञान

होता है। धर्मी की दृष्टि आत्मद्रव्य परसे नहीं खिसकती। और जो यह दृष्टि वहाँ से खिसक कर वर्तमान पर्याय में रुके, एक समय की पर्याय में चोंटे, पर्याय की रुचि हो जाए - तो वस्तु की दृष्टि छूट जाए और वह मिथ्यादृष्टि हो जाए। जो एक समय की पर्याय की महिमा - महत्ता लगे तो द्रव्य परसे दृष्टि खिसक जाती है। एक समय की निर्मल पर्याय की भी रुचि हो जाए तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ४५५.



प्रश्न :- शुभराग को ज्ञानी हेय मानते हैं, पर षोडशकारण भावना तो भाते हैं न ?

उत्तर :- ज्ञानी षोडशकारण भावना नहीं भाते परंतु उस प्रकार का राग आ जाता है। ज्ञानी की भावना तो स्वरूप में स्थिर होने की ही होती है, परंतु स्वरूप में स्थिर न रह सके तब हेयबुद्धि पूर्वक शुभराग आ जाते हैं; ज्ञानी उनके ज्ञाता हैं, कर्ता नहीं। ४६४.



साधक जीव को भूमिकानुसार देव-शास्त्र-गुरु की महिमा - भक्ति, श्रुत-चिंतवन, अणुव्रत-महाव्रत आदि के शुभ विकल्प आते हैं - होते हैं; पर वे ज्ञायक-परिणति को बोझारूप हैं। आहा हा ! अरे ! ऐसे शुभ विकल्प भी बोझारूप लगते हैं। जैसे रूई के ढेर पर लोहे का भार डालें और वह दब जाये जैसे ही जब ज्ञायक परिणति को शुभ विकल्प भी बोझारूप लगते हैं; तब व्यापार-धंधे-धनादि की रक्षा के अशुभ राग के बोझ की तो बात ही क्या करनी ? पवित्र परिणति में शुभ की अपवित्र परिणति बोझारूप है - भाररूप है, आकुलता और क्लेशरूप है। आहा हा ! दिगंबर संतों का ऐसा स्पष्ट कथन है। भाई ! तुझे तेरा परिभ्रमण टालना हो तो सम्यग्ज्ञान की तीक्ष्ण बुद्धि से आनंद-सागर स्वभाव को पकड़ ले। जो आनंदस्वरूप द्रव्य तेरे हाथ में आगया तो मुक्ति की पर्याय सहज ही मिल जायेगी।

४७८.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि को खण्ड ज्ञान और अखण्ड ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि को जैसे अखण्ड की दृष्टि है वैसे ही खण्ड - खण्ड ज्ञान ज्ञेयरूप है। एक ज्ञान-पर्याय में दो भाग हैं - जितना स्वलक्ष्यीज्ञान है वह सुखरूप है; और जितना परलक्ष्यी, परसत्तावलंबी ज्ञान है वह दुःखरूप है। पर-ओर का श्रुत का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है - पर ज्ञेय है - पर द्रव्य है। आहा हा ! देव-गुरु तो परद्रव्य हैं, परंतु इन्द्रियज्ञान भी परद्रव्य है; आत्मा का ज्ञान - वही वास्तविक ज्ञान है। ४८१.



अतीन्द्रिय आनंद में झूलते मुनि छठे-सातवें गुणस्थान में रहने जितने काल में आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना, वहीं के वहीं नहीं रहते। छठे-सातवें गुणस्थान में रहते हुये भी आत्मशुद्धि की दशा विकसित होती ही रहती है। केवलज्ञान न हो तब तक मुनिराज शुद्धि की वृद्धि करते ही जाते हैं। यह तो मुनिराज की अंतर-साधना है; जगत के जीव मुनिराज की इस अंतर-साधना को नहीं देख पाते। साधना कोई बाह्य से देखने की वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अंतर की दशा है। वन में अकेले विचरण करते हों, वाघ-सिंह की दहाड़ गूँजती हो, सिर पर पानी बरसता हो व शरीर में रोग हो तो भी मुनिराज को इनका बिल्कुल भान नहीं रहता; वे तो अंतर में एकाग्र हुए रहते हैं। - ऐसे मुनिराज की अंतर-शुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है; अंतर में शुद्धता हेतुक के चलनेवाला पुरुषार्थ उग्र होता जाता है। ४८८.



जिसे 'आत्मा' का विश्वास हुआ उसे कोई विघ्न ही नहीं, यह

ऐसी वस्तु है। ४९६.



सम्यग्दृष्टि को पाँच इन्द्रियों के विषय के अशुभराग होते हैं परंतु वे उनमेंसे हटकर, ध्यान में बैठते ही निर्विकल्परूप से जम जाते हैं। इसका कारण उनका जोर पूर्ण वस्तुपर होना है। बीच में विकल्प आते हैं पर वे तो उनसे भिन्न...भिन्न..भिन्न ही हैं। ४९७.



आहा हा ! दिगंबर संतों की वाणी तो देखो ! चीर-फाड़ करती हुई त्रिकाली चैतन्यतत्त्व को बतलाती है !.... ५०२.



किसी भी जीव को दुःख हो - ऐसा न हो। सभी जीव परमानंदस्वरूप हैं, ज्ञानानंदस्वरूप परमात्मा हैं - उनके स्वभाव में दुःख कहाँ है ? भाई ! उल्टी श्रद्धा करने से तुझे पर्याय में दुःख होगा। सत्यकी की जा रही प्ररूपणा तुझे न जचे, और (फलस्वरूप) तुझे दुःख हो - यह हम नहीं चाहते। क्षमा करना भाई !

आहा हा ! मार्ग ऐसा है। प्रत्येक जीव - एकेन्द्रिय से लेकर उसी भव में सिद्ध होनेवाले समस्त जीव, परमानंदस्वरूप आत्मा हैं - फिर अनादर किसका ? मुझे दुःख हो तो अच्छा न लगे वैसे ही दूसरों को दुःख हो यह भी हम कैसे चाहें ? कोई विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा कर दुःखी हो - उसका अनुमोदन कैसे हो सके ?

'साधु के अट्टाईस मूलगुण - भगवान द्वारा हुई सत्य प्ररूपणानुसार - यथोक्त न हो व उनका छेदन होता हो तो, उसे साधु नहीं कहते ; द्रव्यलिंगी भी नहीं कहते।' - ऐसी सत्य प्ररूपणा से किसी को भी दुःख हो, हम ऐसा नहीं चाहते। भाई ! बापू ! जब घास का तिनका भी हल्के-से चुभनेपर दुःख होता है, तो तुझे मिथ्याश्रद्धा से तो दुःख कितने होंगे ? - उनका अनुमोदन कैसे हो सके ? सब आत्माओं को शांति...शांति...शांति हो !

यहाँ हमें तो किसीसे विरोध नहीं है, कोई हमारा विरोध नहीं करता। सभी आत्माएँ द्रव्यस्वभाव से तो साधर्मी हैं। विरोध का भाव तो स्वयं को ही हानिकारक है; दूसरों को नहीं। और अविरोधता का भाव भी अपने को ही लाभप्रद है, अन्य को नहीं। आहा हा ! आत्मा तो सर्व से उदास... उदास...उदास है। ५११. (पूज्य गुरुदेवश्री के सहज करुणापूर्ण उद्गार।)



(सहजतत्त्व) अंतराल पड़े बिना, कर्म-विघ्न बिना, राग के विघ्न बिना निरंतर सुलभ है। सहज तत्त्व के सतत् अभ्यास से वह सुलभ है। भगवान आत्मा चैतन्य-प्रकाश का पूर है। अज्ञानी ऐसी महिमावंत वस्तु की महिमापूर्वक अंतर में नहीं उतरता व बाहर की चीजों में ही अटका रह जाता है। ५२८.



धर्मी जीवने सहज तत्त्वपर दृष्टि रखी है, उसके लिए तो वह वीतरागता का घर है। वीतरागमूर्तिमें से वीतरागता छलकती है। जिस घर में राग नहीं परंतु जो समतासे भरा हुआ घर है - उस पर दृष्टि देनेसे समता प्रकट होती है। आत्मा में तो केवल वीतरागता ही भरी है, उसमें जिसने दृष्टि दी है उसके लिए तो वह वीतरागता का ही घर है। उसीमें से उन्हें - सम्यग्दृष्टियों को समता प्रकट होती है। ५२९.



मुनिराज कहते हैं कि 'हम इन संसार-जनित भावों में नहीं हैं।' स्त्री-पुत्र-पैसा-धंधा छोड़ा, अतः संसार छोड़ा है - यह बात नहीं है। जो पर्याय में होनेवाले संसार-जनित सुख-दुखादि से दूर वर्तता है, उसीने संसार छोड़ा है। जो वस्तु प्रत्यक्ष है - प्रकट है - विद्यमान है, जिसका अस्तित्व पर्याय में नहीं ध्रुव में है - उस वस्तु में जो निष्ठ (श्रद्धावान) नहीं है - वह आत्मा से भ्रष्ट होनेसे बहिर्आत्मा

है। ५४५.



शक्तियों का वर्णन करने का हेतु तो यह है कि बाह्य में तेरा ज्ञान, आनंद, सुख, शांति नहीं है; अंतर में ही तेरी शक्तियों का निधान भरा पड़ा है - उस पर दृष्टि कर व बाहर से दृष्टि हटा ले। अंतरंग ज्ञान-दर्शन-आनंद-सुख-वीर्य-प्रभुता आदि शक्तियों द्वारा जीना ही धर्मी जीव का जीवन है। बाह्य देहादि से जीना सो धर्मी जीव का जीवन नहीं है। अंतर में अनंत शक्तियों का भण्डाररूप भगवान सहजानंदमूर्ति विराजमान - अवस्थित है - उसकी दृष्टि व विश्वास पूर्वक जीना ही यथार्थ जीवन है। ५५६.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि जीव को अशुभ-राग के काल में आयु-बंध होता है ?

उत्तर :- उसे अशुभ-राग होता है, परंतु अशुभ-राग के काल में आयु-बंध नहीं होता। क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य वैमानिक देवलोक में जाते हैं, अतः उन्हें शुभ-राग के काल में ही आयु-बंध होता है।

५६०.



जिसे यथार्थ द्रव्य-दृष्टि प्रकट हुई है उसे दृष्टि के जोर में केवल ज्ञायक ही भासित होता है, शरीरादिक कुछ भी भासित नहीं होता। भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में आत्मा शरीर से भिन्न भासित होता है। दिनमें तो भिन्न भासित होता ही है पर रात्रि निद्रा में भी आत्मा निराला ही भासित होता है। सम्यग्दृष्टि के भूमिकानुसार बाह्य-वर्तन होता है परंतु बाह्य-वर्तन में भी किन्हीं भी संयोगों में उसकी ज्ञान-वैराग्य शक्ति कोई अनोखी प्रकार की रहती है। बाह्य से वह चाहे जैसे प्रसंगों-संयोगों में जुड़ा हुआ दिखे तो भी ज्ञायक तो ज्ञायकरूप ही से भासित होता है। संपूर्ण ब्रह्माण्ड

बदल जाए तो भी स्वरूप-अनुभव के विषय में निःशंकता रहती है। 'ज्ञायक' ऊपर चढ़ कर ऊर्ध्वरूप विराजित रहता है, अन्य सर्व राग-विकल्प नीचे रह जाते हैं। चाहे जैसे शुभ-भाव आये, तीर्थकर-गौत्र के शुभभाव आये तो भी वे नीचे ही रहते हैं। द्रव्य-दृष्टिवंत को ऐसा अद्भुत जोर रहा करता है। ५६७.



अंतर में जिनस्वरूपी भगवान आत्मा वीतराग-मूर्ति है। सभी जीव अंतर में तो जिनस्वरूप हैं; पर्याय में अंतर है, परंतु वस्तु में अंतर नहीं है। जो राग से एकता तोड़कर, जिनस्वरूप को दृष्टि में ले व अनुभव करे - वह अंतरंग में जैन है। भेस में जैनत्व नहीं है। बाह्य में वस्त्र-त्यागकर नग्न हो बैठे हों, अतः जैनत्व है; पंच महाव्रत पालन करते हैं इसलिए जैनत्व है - ऐसा नहीं है। परमात्मा 'जैन' तो उसे कहते हैं कि 'जो वस्तु स्वयं ही जिन-स्वरूप है, वीतरागमूर्ति, अखण्डानंद नाथ प्रभु है' उसकी दृष्टि पूर्वक जिनकी राग-विकल्प की दृष्टि छूट गयी हो !। ५६९.



प्रश्न :- त्रिकालीद्रव्य के आश्रय से निर्विकल्प आनंद की अनुभूति हो - उसी समय मुझे आनंद का अनुभव होता है - ऐसा खयाल में आता है क्या ?

उत्तर :- निर्विकल्प अनुभूति के काल में आनंद का वेदन है; परंतु विकल्प नहीं। विकल्प होनेपर खयाल आता है कि आनंद का अनुभव हुआ; परंतु आनंद-अनुभव के काल में आनंद अनुभव होता है - ऐसा भेद (विकल्प) नहीं होता - केवल वेदन होता है। ५७०.



प्रश्न :- चौथे गुणस्थान में अनुभव होता है अथवा केवल श्रद्धा ही होती है ?

उत्तर :- चौथे गुणस्थान में आनंद - अनुभव सहित श्रद्धा होती

है।

प्रश्न :- तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक् कहा है, चारित्र को नहीं कहा ?

उत्तर :- चारित्र की पर्याय तो मुख्यरूप से पाँचवें - छठे गुणस्थान से ही गिनी जाती है, चौथे (गुणस्थान) वाले को तो स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हुआ है। ५७१.



प्रश्न :- ग्यारह अंगधारी द्रव्यलिंगी की क्या भूल रह जाती है ?

उत्तर :- स्व-सन्मुख दृष्टि नहीं करता - अतीन्द्रिय प्रभु के सन्मुख दृष्टि नहीं करता।

प्रश्न :- (क्या) द्रव्यलिंगी स्व-सन्मुख होनेका प्रयत्न न करता होगा ?

उत्तर :- नहीं। उसकी धारणा में तो सभी बातें रहती हैं परंतु वह अंतर्मुखता का प्रयत्न नहीं करता।

प्रश्न :- द्रव्यलिंगी की भूमिका की तुलना में सम्यक्त्व-सन्मुख (जीव) की भूमिका कुछ ठीक है ?

उत्तर :- हाँ। द्रव्यलिंगी तो संतुष्ट हो गया है। परंतु सम्यक्त्व-सन्मुख जीव प्रयत्नरत है। ५७३.



प्रश्न :- धर्मी-साधक जीव राग का वेदक है कि ज्ञाता है ?

उत्तर :- साधक जीव का ज्ञान राग में जाये तब दुःख का वेदन होता है; ज्ञान, ज्ञान ही में रहे तो सुख का वेदन करता है। ५७५.



प्रश्न :- ज्ञानी को तो दुःख का वेदन है ही नहीं न ?

उत्तर :- ज्ञानी को भी राग है उतना दुःख है। ज्ञानी को जितना कषाय है, उतना दुःख का वेदन भी है। दुःख का वेदन नहीं है - ऐसा तो श्रद्धा के जोर की अपेक्षा से कहा है कि ज्ञानी राग

का वेदक नहीं परंतु ज्ञायक है। एक ओर तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में बंध ही नहीं है और पुनः कहते हैं कि चौदहवें गुणस्थान पर्यंत संसारी है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो वहाँ उसी अनुसार समझना चाहिए। ५७६.



ज्ञानी को भी तीव्र रोग होते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, बाहर में इन्द्रियाँ कार्य न कर सके, बाह्य में असाध्यता जैसा लगे; परंतु अंतर में कुछ भी असाध्य नहीं है। ५७९.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं अथवा मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आवे ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं; तथा मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आवे अर्थात् उसकी दृष्टि मात्र द्रव्यपर ही होनेसे मुक्ति की पर्याय तो (अवश्य) आनेवाली ही है। ५९२.



साधु का भावलिंग तो आनंद का उग्र वेदन होता है। नग्नता व पंच महाव्रत तो द्रव्यलिंग है। ५९५.



दिगंबर मुनिराज अर्थात् पंच परमेष्ठी में समाहित भगवंतस्वरूप ! आहा हा ! कुंदकुंदाचार्य भगवान ने कहा है कि 'अर्हंत भगवान से लेकर हमारे गुरु पर्यंत विज्ञानघन में ही निमग्न थे... राग में न थे, निमित्त में न थे, भेद में भी न थे - वे सभी विज्ञानघन में ही निमग्न थे।' ५९७.



ध्रुवधामरूपी ध्येय के ध्यान की प्रचण्ड धुनी - उत्साह व धैर्य से - धुनना, ऐसे धर्म का धारक धर्मी धन्य है। ६११.

ज्ञानी को प्रत्येक समय अपने ही से हुए ज्ञेय-संबंधी ज्ञान की प्रसिद्धि की मुख्यता है; ज्ञेय की प्रसिद्धि की मुख्यता नहीं। आहा ! ज्ञान तो ज्ञान को ही प्रसिद्ध करता है परंतु ज्ञेय भी ज्ञान को ही प्रसिद्ध करता है - यह सत् की पराकाष्ठा है। ६१६.



चैतन्यसूर्य के प्रकाश में रागरूप अंधकार का आदर कैसे हो ? जिसे ज्ञानस्वरूप का ज्ञान है वही ज्ञानी है। ६२३.



ज्ञान-संयम आत्माश्रित है, पराश्रित नहीं - यह जानते हुए ज्ञानी नित्य सहज ज्ञान-पूँज में स्वावलंबन से स्थिर रहते हैं। ६३४.



भगवान आत्मा सदा अंतर्मुख है। अति अपूर्व, निरंजन और निज-बोध का आधारभूत - ऐसा कारण परमात्मा है - उसका सर्वथा, सहज अंतर्मुख अवलोकन द्वारा मुनिराज जो अनुभव करते हैं, उसे भगवान संवर और आलोचना कहते हैं। ६३५.



निमित्त से भिन्न व राग से भी अधिक (भिन्न) - ऐसे निज चैतन्यस्वभाव का भान होनेके उपरांत उसका वेदन गहन हो जाता है और तब परिग्रह की ममता छूट जाती है - ऐसी दशावाले श्रावक के ही प्रतिमा होती है। ६५५.



धर्मी को अन्य धर्मी के प्रति प्रेम उमड़ता है। सम्यग्दृष्टि को सच्चे गुरु व साधर्मी के प्रति प्रेम आये बिना नहीं रहता। वे द्वेष भाव नहीं करते। मेरी कीर्ति की अपेक्षा उसकी मान-कीर्ति अधिक हो गयी - ऐसा द्वेष नहीं करते। कदाचित् शिष्य पहले मोक्ष चला जाए तो भी उन्हें द्वेष नहीं होता। जैसे किसीको अपने पुत्र से प्रेम हो और वह यदि अमीर हो जाए तो उसके प्रति द्वेष नहीं करता,

उल्टा प्रेम तथा उल्लास दिखलाता है; वैसे ही शिष्य की दशा विकसित होती जानने पर धर्मात्मा को उसके प्रति द्वेष नहीं होता। ६५६.



समकिती, पंच परमेष्ठी-जिनवाणी-जिनप्रतिमा-जिनधर्म-जिनालय - इन नौ देवों को मानता है, वह शुभराग है। यदि कोई जीव जिन-प्रतिमा का उत्थापन करता है तो, वह मिथ्यादृष्टि है। और जो मूर्तिपूजा में ही धर्म मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि को भी पूजा-यात्रादि के राग हुआ करते हैं, पर वह उन्हें बंध मानता है। ६६४.



जेवर बेच देनेके बाद उन्हें सँभालने की चिंता नहीं रहती; वैसे ही ज्ञानी को शरीर-मन-वाणी-राज्य-धनादि के प्रति स्वामित्व (भाव) उड़ चुका होनेसे उनकी चिंता नहीं रहती। अज्ञानी को उनमें स्वामित्व-भाव रहा करता है। ६६६.



अंतरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया तो अंतर्दृष्टि से ही ग्राह्य है; परंतु अज्ञानी को ऐसी दृष्टि प्रकट नहीं हुई है, अतः अध्यात्म की अंतर-क्रिया तो उसे दृष्टिगोचर नहीं होती; और इसी कारण से अज्ञानी जीव मोक्ष-मार्ग को नहीं साध सकता। वह चाहे जितने शुभभाव करे परंतु अंतर की अध्यात्म-दृष्टि बिना मोक्ष-मार्ग को साधने में असमर्थ है। अज्ञानी को बाह्य की क्रिया तथा शुभ परिणाम सुगम लगते हैं तथा वह उन्हीं में मोक्ष-मार्ग मानता है। अज्ञानी, ब्रह्मचर्य पालन व त्याग आदि शुभ परिणाम को ही मोक्ष-मार्ग मानता है; परंतु अंतर में निर्विकल्पज्ञानानंद स्वभाव विद्यमान है उसमें ब्रह्मचर्यादि का शुभ विकल्प भी नहीं है। अध्यात्म की ऐसी निर्विकल्प परिणति को अज्ञानी पहचानता ही नहीं है; जिस कारण से वह मोक्ष-मार्ग में नहीं है। ज्ञानी तो मोक्ष-मार्ग को साधना जानता है। ६७०.

अंतर शुद्ध द्रव्य-एकरूप-निष्क्रिय-ध्रुव-चिदानंद- सो निश्चय; तथा

उसके अवलंबन से प्रकट हुई निर्विकल्प मोक्षमार्ग-दशा - व्यवहार है। अध्यात्म का ऐसा निश्चय-व्यवहार ज्ञानी ही जानता है; अज्ञानी नहीं... और उसे यह बात कदाचित् सुनने को मिले तो भी वह न माने। ६७१.



चौथे गुणस्थान में उपादेयरूप शुद्ध भाव अल्प है, वह भाव पाँचवें-छठे गुणस्थान में विकसित होता जाता है। और हेयरूप विकार चौथे गुणस्थान की अपेक्षा पाँचवें-छठे गुणस्थान में मंद होता जाता है। जैसे जैसे शुद्धता बढ़ती है वैसे वैसे गुणस्थान-क्रम भी आगे बढ़ता जाता है। गुणस्थान अनुसार स्वज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति भी विकसित होती जाती है।

परद्रव्य को छोड़ने से गुणस्थान बढ़े - ऐसा नहीं है। लंगोटी होनेपर पाँचवाँ व लंगोटी छोड़ने पर छठ्ठा-सातवाँ गुणस्थान हो - ऐसा नहीं है। किन्तु अंतर में द्रव्य को ग्रहणकर उसके आचरण की उग्रता होनेपर गुणस्थान बढ़ता है। और बाह्य में गुणस्थानानुसार निमित्त संबंध छूट जाते हैं। जैसे कि छठे गुणस्थान में सदोष आहार लेने का विकल्प नहीं उठता और वस्त्र का संयोग भी नहीं होता; वह गुणस्थान तो अंतर-शुद्धि के बल से टिका हुआ है। कोई बाह्य में वस्त्र-त्यागकर बैठने से छठ्ठा गुणस्थान नहीं हो जाता।

गुणस्थान-अनुसार ही ज्ञान व उसी अनुसार क्रिया होती है। कोई चौथे गुणस्थान में केवलज्ञान अथवा मनः पर्ययज्ञान नहीं होता; वैसे ही क्रिया अर्थात् शुभभाव भी गुणस्थान अनुसार ही होते हैं। अंतर में चौथा गुणस्थान वर्तता हो व बाह्य में द्रव्यलिंगी मुनि हो यानी छठे गुणस्थान जैसी क्रिया हो - उसकी तो यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि जो गुणस्थान प्रगट हुआ, उस अनुसार ही क्रिया होती है। अंतर में छठ्ठा गुणस्थान हो व बाह्य में व्यापार करता हो - ऐसा नहीं हो सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शुभ परिणाम

के आधार से गुणस्थान होता है। ६७२.



दो जीव सम्यग्दृष्टि हों, उनमें से एक तो ध्यान में बैठा हो व दूसरा युद्ध मैदान में खड़ा हो। तब दूसरे सम्यग्दृष्टि को ऐसा संदेह नहीं होता कि, अरे ! हम दोनों सम्यग्दृष्टि होनेपर भी वह तो ध्यान में बैठा है और मेरे युद्ध क्रिया ! - ऐसी शंका नहीं होती; क्योंकि सम्यग्दर्शन उदयभाव के आधीन नहीं है; वह तो अंतर-स्वभावपर अवलंबित है। धर्मी को उस स्वभाव का आलंबन युद्ध के समय भी नहीं हटता। ज्ञायकप्रमाणज्ञान है तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरण चारित्र है। बाह्य क्रियानुसार अथवा शुभरागानुसार चारित्र नहीं बतलाया है, पर वह तो अंतर-अनुभव प्रमाण होता है। देखो ! यह धर्मी की शक्ति ! - ऐसी ज्ञाता की सामर्थ्य है। ६७४.



जड़ की क्रिया जड़ के कारण से होती है। धर्मी को अपने ही कारण से शुभराग के काल में शुभराग आता है, परंतु वह धर्म नहीं। शुभराग के अवलंबन से धर्म नहीं होता। शुभ-राग के काल में निजावलोकन मात्र ही धार्मिक क्रिया है। आत्मा बाह्य वस्तुओं का ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता है। जैसे राग के कारण से परकी पर्याय नहीं होती, वैसे ही राग से धर्म नहीं होता। चिदानंद पद का जितना अनुभव हो, उतना ही धर्म है। ६८५.



जो अभ्यंतर आनंदकंद में रमते हों, वे मुनि होते हैं। जो सदोष आहार-पानी लेते हैं, वे निश्चय से अथवा व्यवहार से भी मुनि नहीं हैं। मुनि के हेतु विशेष वस्तु बने तथा उसका मुनि सेवन करे तो, वह व्यवहार से भी मुनि नहीं है। व्यवहार-शुद्धि न होनेपर भी स्वयं को मुनि माने अथवा मनवाए - वह मिथ्यादृष्टि है। एक रज-कण भी मेरा नहीं, पुण्य-पाप मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञायक हूँ - जिसकी ऐसी

दृष्टि हुई है - उसके विकल्प उठे तो एकबार निर्दोष आहार सेवन करे वह अट्टाइस मूलगुण के पालनरूप विरति व्यवहार परिणति हो, वह साधक है। तथा अंतर में चारित्र-शक्ति की मुख्यता होना ही साध्य है। ६८९.



जबतक वस्त्र का एक धागा रखने का भी भाव है तबतक मुनित्व-भाव नहीं आ सकता। मुनिपना आ जाए व वस्त्र रखने का भाव भी आता हो - ऐसा कभी नहीं हो सकता। ६९१.



स्वरूप के भानपूर्वक प्रतिमा में भगवान की यथार्थ स्थापना को ज्ञानी जानता है। देखो ! अर्हतदेव की वीतरागी मुद्रा !! वह पत्थर से घड़ी होनेपर भी वीतराग-मार्ग को दिखलाती है। पर किसको ? - कि जिसे अंतर में भान हुआ है उसे; अहो ! शांत...शांत... वीतराग मुद्रा ! ७०२.



अरे जीवो ! 'रुक...जाओ... उपशमरस में डूब जाओ' - भगवान की प्रतिमा - ऐसा उपदेश देती लगती है; अतः स्थापना भी परम पूज्य है। तीनों लोक में शाश्वत वीतराग मुद्रित जिन-प्रतिमा हैं। जैसे लोक अनादि - अकृत्रिम है, लोक में सर्वज्ञ भी अनादि से है, वैसे ही लोक में सर्वज्ञ की वीतराग प्रतिमा भी अनादि से अकृत्रिम - शाश्वत है। जिन्होंने ऐसी प्रतिमाजी की स्थापना को ही उड़ा दिया है, वे धर्म को समझे ही नहीं हैं। धर्मी जीव को भी भगवान के जिनबिंब-प्रति भक्ति का भाव आता है। ७०३.



धर्मात्मा - बालक हो, वृद्ध हो, मेढ़क हो, पर 'मैं ज्ञानानंद हूँ, राग सो मैं नहीं' - ऐसा भान होनेसे, जब अनुभव करता है तब 'सिद्ध-समान' ही आत्मा का अनुभव करता है। सिद्ध जितना पूर्ण

अनुभव तो नहीं किन्तु सिद्ध की जाति का ही अनुभव होता है। निजस्वभाव में स्थिर होता है तभी आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। एकदेश आनंद-कंद का अनुभव हुआ अर्थात् स्वरूप-अनुभव की संपूर्ण जाति पहचानी। सिद्धों-अर्हंतों आदि को जैसा अनुभव होता है, वैसा धर्मी जान लेता है। 'अनुभव पूज्य है।' 'स्वयं शुद्ध आनंद कंद है' ऐसी श्रद्धा सहित अनुभव पूज्य है - वही परम है - वही धर्म है - वही जगत का सार है। आत्मानुभव तो भव से उद्धार करता है। अनुभव तो भव से पार लगाता है, महिमा धारण करता है, दोष का नाश करता है। आत्मशक्ति में ज्ञान व आनंद भरे हुये हैं। शक्ति की व्यक्तिरूपी अनुभव से ही चिदानंद में निखार आता है - वही वास्तविक विकास है। ७१२.



छट्टे गुणस्थानवाला जीव अंतर्मुहूर्त में ध्यान में (निर्विकल्प में) न आए तो छट्टा-सातवाँ गुणस्थान नहीं रहता। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में लंबे-लंबे काल के बाद निर्विकल्प- अनुभव होता है परंतु ज्ञान लब्धरूप से तो सदा ही वर्तित होता रहता है। ७१६.



धर्मी जीव, वाणी-योग व पुण्य-उदय होनेपर, वाद-विवाद कर असत्य का उत्थापन तथा सत् का स्थापन करता है; परंतु ऐसे उदय के अभाव में ज्ञानी को अंतर में असत्य की अस्वीकृति, निषेध व विरोध वर्तता है। - ऐसी स्थिति में शांति बनाए रखनेवाले मिथ्या मध्यस्थभाव रखनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं; - ऐसेमें सम्यग्दृष्टि शांत होकर नहीं बैठ सकते। यदि अपनी मातापर लौंछन आए तो क्या सुपुत्र शांति से सहन करता रह सकता है ?? तत्त्व से विरुद्ध कथन आए तो उसे धर्मी सहन नहीं कर सकता। ७२३.



जिसके सच्ची श्रद्धा प्रकट होती है उसका संपूर्ण अंतरंग ही

बदल जाता है, हृदय पलट जाता है। अंतर में उथल-पुथल हो जाती है। अनादि अज्ञान-अंधकार टलता है, अंतर की ज्योति जग उठती है। उसकी दशा की दिशा संपूर्णतः फिर जाती है। जिसका अंतर बदलता है उसे किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता। उसका अंतर बेधड़क पुकारता हुआ साक्षी देता है कि - अब हम प्रभु के मार्ग में आ गए हैं, सिद्ध का संदेशा आ चुका है, अब हम अल्प काल में सिद्ध होकर (संसार से) छुटकारा पायेंगे; अब और कुछ नहीं होनेवाला है, अंतर नहीं पड़नेवाला है। ७३९.



'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ 'मेरे स्वभाव में संसार नहीं है' - ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव संसार के स्वरूप का विचार करते हैं। जिसे संसार रहित स्वभाव की दृष्टि प्रकट नहीं हुई उसे संसार-स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता। ७४८.



सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्धभाव द्वारा शुद्धजीव को निश्चय से जानता है; पर से या राग से नहीं, वरना ज्ञान से जानता है। ऐसे भानवाला आत्मा, परसे अस्पर्शित आत्मा - निज-भान किये पश्चात् सर्व संग से विमुक्त होता है। 'मैं सर्व संग से विमुक्त हूँ' - प्रथम ऐसी दृष्टि होनेपर ही पर्याय में सर्व संग विमुक्त होता है। ७५६.



निर्धनता कोई अपराध नहीं व सधनता कोई गुण नहीं है। निर्धनता होनेपर भी जिसे अंतर में भान है कि 'मैं तो चैतन्य-निधि का स्वामी हूँ, केवलज्ञान की अनंत निधि मुझ में पड़ी है, जड़-संयोग में मेरा सुख नहीं है' - ऐसे धर्मी जीव को भगवान ने 'पुण्यजीव' कहा है।

७५९.



जिसे स्वयं को श्रद्धा व सच्चाज्ञान हुआ हो उसकी चमक छिपी

नहीं रहती। उसे तो अन्य सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारक जीवों के प्रति अत्यंत प्रेम होता है। धर्मात्मा को देखते ही अनुराग उमड़ता है। निज-गुण की प्रीति व बहुमान होनेसे अन्य जीवों में भी गुण देखते ही उनके प्रति बहुमान व आदर आता है। अन्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादि के धारक जीवों में बहुत अंतर पड़ जाता है। ७६२.



ज्ञान है, ज्ञेय भी है, कोई किसी के कारण से नहीं है। वर्तमानज्ञान सामान्य ज्ञानस्वभाव की ओर झुक कर जाता है - उसमें 'यह नहीं' - ऐसा भाव ज्ञानी को नहीं होता। ठीक-अठीक समझकर अटकना, यह ज्ञानी का कार्य नहीं है।

प्रश्न :- राग नहीं चाहिए - ज्ञानी को ऐसा विचार होता है कि नहीं ?

उत्तर :- ज्ञान में तो ज्ञेय है; उसको टालने के भावरूप श्रद्धा नहीं होती। अस्थिरता से विकल्प अवश्य उठते हैं; परंतु 'है जो है' ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक ही सब बात है। ७७१.



धर्मी जीव, आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव-सन्मुखता की रुचिपूर्वक बारह भावनाओं का चिंतवन कर अंतर-एकाग्रता बढ़ाता है, वह संवर है। अंतर-दृष्टि बिना ऐसी भावना यथार्थ नहीं होती। ये बारह भावना ही धर्मी जीव के आनंद की जननी है। ७७८.



सम्यग्दृष्टि भय से, आशा से, स्नेह से अथवा लोभ से - कुदेव, कुशास्त्र तथा कुलिंग - वेषधारी को प्रणाम अथवा उनका विनय नहीं करता है। ७८२.



जीव का प्रयोजन-सिद्ध करने हेतु अध्यात्म-दृष्टि में अभेद को मुख्य कर उसे निश्चय कहा है। व उस में भेद का अभाव है, इसीलिए

अभेद-दृष्टि में भेद को गौण कर उसे व्यवहार कहा है। - इस मुख्य-गौण के रहस्यमय भेद को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। ७८३.



द्रव्य-गुण-पर्याय में अनेक धर्म है। जैसे द्रव्य में अनेक स्वभाव धर्म हैं, वैसे ही पर्याय में भी अनेक स्वभाव-धर्म हैं। प्रत्येक समय की पर्याय अपना अस्तित्व स्वयं ही अक्षुण्ण रखती है, इसमें परसे नास्तित्वरूप धर्म है। ऐसा न हो तो पर्याय का अस्तित्व ही न रह सके। सम्यग्दृष्टि - ऐसे द्रव्य-गुण व पर्याय-धर्म का विचार निजस्वभाव-सन्मुख रहकर करता है। उसमें जितना राग घटे वही धर्म है। ७८५.



सर्वज्ञदेवने एक समय में तीन काल व तीन लोक जाने हैं व मेरा भी जानने का ही स्वभाव है। 'जो होनी है' वह बदल नहीं सकती, पर 'जो होना है' उसका 'मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ।' मैं पर की पर्याय की तो बदलनेवाला नहीं परंतु अपनी पर्याय को भी बदलनेवाला नहीं। धर्मी का निजस्वभाव-सन्मुख रहते हुए ऐसा निश्चय होता है - जो नहीं होना है, वैसा कभी नहीं होनेवाला है; मैं कहीं भी फेर-बदल करनेवाला नहीं हूँ। ७८९.



अहो ! दिगंबर संतों का कोई भी ग्रंथ लो, वह आत्मा को चैतन्यस्वभाव में स्तंभित कर देता है। ७९०.



जो अंतर-शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि पड़ी है वह न तो भव को बिगड़ने देती है और न भव को बढ़ने देती है। ज्ञानस्वभाव के अनादर से जो कर्म बंधे हैं - सम्यग्दृष्टि- उन कर्मों का ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा नाश कर डालता है। सम्यग्दृष्टि को भले ही (पूर्व में) अज्ञान-दशा में किसी नरकादि की आयु-बंध हो गया हो; परंतु सम्यग्दर्शन सहित जीव को तो नरकादि का आयु-बंध होता ही नहीं है। सम्यग्दर्शन

की ऐसी महिमा है। ७९४.



ज्ञानी की दृष्टि तो संसार से छूटने की है। अतः वह राग रहित निवृत्त स्वभाव की मुख्य भावना व आदर में सावधानी से प्रवृत्त रहता है। फिर भी वह यदि किसी अतिचार में रक्त हो गया हो तो भी उससे छूट कर, शांत ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर होना चाहता है। परंतु जो ऐसा मानता है कि संयोग पलट दूँ तथा क्रोधादि करने योग्य हैं - उसके तो श्रद्धा में ही स्थूल विपरीतता है। ज्ञानी के तो वीतरागदृष्टि ही मुख्य है; उसमें तो वह तनिक भी क्षति नहीं होने देता। हाँ, यदि चारित्र में निर्बलता के कारण अतिचार हो जाए तो निंदा कर, खेद को प्राप्त होता है; बुद्धि-पूर्वक बचाव नहीं करता कि ऐसा दोष गृहस्थदशा में हो तो कोई हानि नहीं। जो - ऐसा करे, वह तो स्वच्छंदी - मिथ्यादृष्टि है। ७९५.



'अशरीरी सिद्ध की ही जाति का मैं हूँ - उस एक ही का आदर करने की मेरी दृढ़ टेक है; अतः स्वप्न में भी पुण्य-पाप-संसार की बातों का आदर नहीं करता। जो सिद्ध, चिदानंद पूर्ण हुए हैं उनके कुल का मैं भी उत्तराधिकारी हूँ। चार गति में घूमने का राग कलंक है। अतीन्द्रिय-सिद्ध-परमात्मदशा की महिमा द्वारा, सर्व कलंक दूर कर वीतरागी होनेवाला हूँ - इस प्रकार धर्मी, गृहस्थदशा में प्रतिज्ञा कर दृढ़ व्रती होता है। ७९६.



राग तोड़कर, पुरुषार्थ की शक्ति तथा एकाग्रता के जोर-अनुरूप ही ज्ञानी प्रतिज्ञा लेता है। हठ कर, देखादेखी से, आवेश में आकर प्रतिज्ञा नहीं करता। परंतु सहज ज्ञान में समता द्वारा बाह्य-आलंबनरूप राग घटाने का नित्य प्रयोग करता है। ७९७.

चारित्र के प्रयोजन से किये जानवाले उद्यम व उपयोग को तप

कहा गया है। आत्मा में पुरुषार्थपूर्वक निज उपयोग को तन्मय करना सो ही चारित्र अथवा तप है। जो वीतरागदशा प्रकट करे सो तप है। उस समय कायक्लेश होता है, परंतु मुनि तो उससे आत्मा में होनेवाली विभाव-परिणति के संस्कार को मिटाने का उद्यम करते हैं। यानी कायक्लेश में शरीर कृश हो अथवा अंगोपांग चूर हो जाएँ इत्यादि के निमित्त से विभाव-परिणति प्रति अरोचकता-द्वेष न हो परंतु स्वभाव में विशेष लीनता हो - मुनि ऐसा उद्यम करते हैं। तथा निज शुद्धस्वरूप उपयोग को चारित्र में स्थिर करते हैं, वे बहुत उग्रता से स्तंभित होते हैं। - ऐसी उग्रता ही तप है, वह बाह्य-अभ्यंतर भेद से बारह प्रकार का है। ८०२.



मुनि की वीतरागदशा बहुत विकसित हुई होती है; परंतु फिर भी अपूर्णता होनेसे राग के कारण शुभभाव होते हैं। अतः ऐसा कहा जाता है कि धर्म के कारण पुण्य-उपार्जन होता है, पर धर्मी को केवल पुण्य-उपार्जन हेतु धर्म-सेवन नहीं होता। वास्तव में धर्म तो गुण का उपार्जन है; परंतु शुभाशुभभाव आये बिना नहीं रहते, अतः व्यवहार से कहा जाता है कि धर्मी पुण्य-उपार्जन करता है। परंतु पुण्य की वांछा रखनेपर तो उसका सम्यक्त्व ही नहीं टिक सकता।

८०४.



प्रश्न :- (मुनि) मूर्छा बिना वस्त्र रखे तो क्या क्षति है।

उत्तर :- मुनि की छट्टी (गुणस्थान) भूमिका अरागी अहिंसा है। उन्हें शरीर के अतिरिक्त किसी भी संयोग के प्रति मूर्छा नहीं होती। केवलज्ञान प्राप्त करने की योग्यतावाले मुनि, जो पल में सातवीं व पल में छट्टी भूमिका में झूलते हैं - आनंद में झूलते हैं, उन्हें वस्त्र रखने के रागवाली दशा नहीं होती। रागवाली दशा को चारित्र मानना, हिंसा है। ८०६.

मुनिराज कभी ऐसी इच्छा नहीं करते कि जगत में उनका माहात्म्य व मान बढ़े। मुनि को तो चार गतियों के भव में ही वैराग्य वर्तता है, वे तो देव-गति की भी इच्छा नहीं करते। उनका बाह्य तप ऐसा है कि पाँच इन्द्रियों के भोग से भी मन टूट गया है; इस समय मुनिराज को अंतरंग तप भी होता, अंतरात्मा में आत्मा का ही प्रेम होता है। जैसे किसी का इक्कीस वर्ष का पुत्र मर गया हो तो उसके मोहवश क्लेश में घाव लगते हैं, उसीके खयाल में जगत के अन्य पदार्थों का प्रेम विस्मृत हो जाता है; वैसे ही मुनिराज को आत्मा का प्रेम वर्तता है अतः परका प्रेम नहीं रहता। ८०८.



मुनिजनों की अनुपस्थित में उनकी भक्ति करनी। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा को प्राप्त हों व बाह्य में नग्न-दिगंबर दशा हो उन्हें मुनि कहते हैं। वर्तमान में ऐसे मुनि दिखाई नहीं देते अतः उनकी परोक्ष भक्ति करनी चाहिए। कुंदकुंदाचार्य, अमृतचंद्राचार्य, पूज्यपादस्वामी, समंतभद्राचार्य आदि महान आचार्यों की - जिन्होंने सर्वज्ञ देव की वाणी-अनुसार शास्त्रों की रचना कर, धर्म को टिकाया है तथा जो धर्म के स्तंभ हैं; भक्ति-प्रशंसा-बहुमान करना व उनका उपकार गाना चाहिए। ८०९.



मुनि-धर्म शुद्धोपयोगरूप है। पुण्य-पापरूप शुभाशुभभावधर्म नहीं है परंतु शुद्धोपयोग ही धर्म है - ऐसा निर्णय तो पहले ही हो चुका होता है। सम्यग्दर्शन सहित अंतर में लीनता वर्तती हो, वही मुनि-धर्म है। ८२२.



मुनिराज बाईस परीषह को सहन करते हैं। जो हठ से परीषह को सहन करते हैं उन्हें धर्म तो नहीं है, पर शुभभाव भी नहीं है; उनके तो केवल अशुभभाव होता है। जिन्हें आत्मा के भानपूर्वक

शुद्धोपयोग हुआ है उन्हें परीषह के काल में उस-ओर का विकल्प भी नहीं उठता - यही परीषह-जय कहलाती है। ८२३.



आचार्य व उपाध्याय - इन दो पदवी-धारकों के अलावा भी अन्य समस्त जो मुनिपद के धारक हैं, वे मुनि हैं और आत्मस्वभाव को साधते हैं। 'साधु' शब्द द्वारा निजस्वरूप की साधना की बात ही मुख्यता से की है। आत्मा के भानपूर्वक निजस्वभाव को साधते हैं व आत्मा में लीन होते हैं - ऐसे मुनि, पुरुष ही होते हैं। स्त्री को तीन काल में भी मुनिपना नहीं होता। जिन की बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रथ दशा होती है, वे ही मुनि हैं। जो स्त्री के साधु-पद मानते हैं उनका तो 'नमस्कामंत्र' भी सच्चा नहीं है। अठाइस मूल गुण-पालन, नग्न दशा, परीषह-जय आदि जैन मुनियों की यही दशा होती है। परीषह-जय में स्त्री को भी परीषहरूप में लिया है, अतः पुरुष ही मुनि होते हैं। ८२४.



अपने ज्ञान में विवेक प्रकट हुआ होने से अर्हतादि को स्मरणपूर्वक नमस्कार करते हैं। वे ही प्रिय और अपने हैं। जैसे विवाह-प्रसंग में स्नेही संबंधियों को निमंत्रण देते हैं, वैसे ही धर्मार्थ हेतु इष्ट ऐसे - सिद्धों, अर्हतों, जिनबिंबों आदि को स्मरण कर नमस्कार करते हैं; उनके उपकार नहीं भूले जाते।

कितने ही जीव सनातन दिगंबर-परंपरा के शास्त्र वांचन कर कुदेवादिक के नाम से प्ररूपणा करते हैं, अतः वे अनंत संसारी हैं।

जिन्हें सच्चे निमित्त प्रति ही बहुमान नहीं आता, उन्हें आत्मा का बहुमान तो आ ही नहीं सकता। निमित्त का विवेक तो वास्तव में आत्मा का विवेक है। जिन्हें स्वरूप-दृष्टि हुई है - उन्हें निमित्त-प्रति विनय हुए बिना नहीं रहता।

जो लोग निश्चय के नाम से (बहाने से) भूले हुए हैं तथा व्यवहार को नहीं समझते, वे निश्चय-व्यवहार दोनों को ही भूले हैं। ८२७.



प्रश्न :- पर वस्तु बंध का कारण नहीं है तो फिर वस्त्र के होने अथवा न होनेसे मुनिपने में क्या बाधा आती है ?

उत्तर :- पर वस्तु बंध का कारण नहीं है। वस्त्र कोई बंध का कारण नहीं है परंतु वस्त्र-पात्र रखने पर उसमें होनेवाला ममत्व-भाव बंध का कारण है। वस्त्र-पात्र हो व उसके प्रति ममत्व-भाव न हो - ऐसा संभव ही नहीं है। अतः जिनके वस्त्र-पात्र हैं, उनके ममत्व-भाव भी है ही; फिर भी जो मुनिपना माने तो - वह मिथ्यात्वभाव है और अनंत संसार में भटकानेवाला भाव है। मोटर, बंध का कारण नहीं है पर उसमें बैठने का राग-भाव बंध का कारण है, ऐसा ज्ञान करना चाहिए। जो पर वस्तु को बंध का कारण मानते हैं वे वस्तुस्वभाव को समझे ही नहीं हैं। ८५४.



वर्तमान में लक्ष्मी न हो तो भी जो पाप का अभाव कर स्वरूप-संपदा की प्राप्ति हुई... तो फिर, मुझे अन्य संपदा से क्या प्रयोजन है ? इसके विपरीत पाप-परिणाम हों तो अंतर की संपदा तो लूटाती है। अतः बाह्य में लक्ष्मी मिले तो उससे मुझे क्या लाभ है ? - कुछ नहीं; सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है। ८५६.



धर्मी जीव को विकसित (धर्म) पर्याय की भी रुचि नहीं होती। रुचि तो, अंतर्मुख स्वभाव की ही रहती है। चार ज्ञान विकसितरूप से प्रकट हों तो भी क्षायोपशमिकज्ञान होने से धर्मी को उनकी रुचि नहीं होती तो फिर उसकी राग व पर पदार्थों में रुचि होने कैसे संभव है ? ८५८.



बाह्य-क्रिया से निर्जरा नहीं होती। पंचम गुणस्थानवाले श्रावक को एक मास का उपवास करते समय जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा मुनि को निद्राकाल में अथवा आहारपान के समय अधिक निर्जरा होती है। यानी अकषाय-परिणाम अनुसार निर्जरा होती है, बाह्य-प्रवृत्ति उसका कोई आधार नहीं है। ८७८.



जिसको अंतरदृष्टि व ज्ञान नहीं है, उसका तो उपचार से भी बाह्य-तप नहीं कहलाता है। ऐसे ही अनशन, प्रायश्चित, विनय आदि को तप बतलाया उसका कारण यह है कि अनशनादि साधन से प्रायश्चितरूप प्रवर्तमान वीतरागभावरूप सत्य तप पोषित हो सकता है, इसीलिए प्रायश्चित आदि को उपचार से तप कहा है। परंतु यदि कोई वीतरागभावरूप तप को तो न जाने, किन्तु बारह तप को ही तप जानकर आचरण करता है तो संसार में भ्रमित होता है। लोग तो बाह्य-तप को ही धर्म मानते हैं।

अज्ञानी की तपश्चर्या को सच्ची तपश्चर्या मानना व वैसा ही प्ररूपित करना, बड़ा पाप है। दृष्टि का पता ही नहीं, सत्य बात रुचिकर न हो व व्रत धारण करे तो - वह वास्तव में जैन नहीं है। ८७९.



सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करता है सो तत्त्वज्ञानपूर्वक करता है। ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि के समान अधीर होकर प्रतिज्ञा नहीं करता। जिसे स्वरूपाचरण का अत्यांश - शांति का एक कण भी प्रकट हुआ है, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर ही प्रतिज्ञा करता है। काल कैसा है ? हठ बिना, आक्षेप बिना, पर के दोषों से उन्मुख होकर, निजपरिणाम के अवलोकन से, अपनी दिखनेवाली योग्यता आदि के विचारपूर्वक ही सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा व प्रतिक्रमण करता है।

कितने ही जीव प्रतिज्ञान ले बैठते हैं परंतु अंतर में तत्त्वज्ञान का अभाव होनेसे उनके भीतर कषाय की वासना नहीं मिटती। ८८२.

कोई ऐसा कहे कि आत्मा को नहीं जान सकते, सम्यग्दृष्टि - मिथ्यादृष्टि का पता नहीं पड़ता, भव्य-अभव्य का पता नहीं चलता तो उसे ज्ञान के सामर्थ्य की ही खबर नहीं है। ज्ञान, स्व-पर प्रकाशक है अतः वह आत्मा को और पर को न जाने - ऐसा संबंध ही नहीं है। ऐसे जीव को तो निज ज्ञान-सामर्थ्य का ही विश्वास नहीं है।

लब्धि के अधिकार में ऐसा कहा है कि जिसे चौदह पूर्व का ज्ञान है - ऐसा ज्ञानी, जो न्याय निकालता है वैसा न्याय सम्यग्दृष्टि भी निकाल लेता है, उसमें इतनी सामर्थ्य है। अतः ज्ञानी को द्रव्यलिंगी का अन्यथारूप भासित हो सकता है। ८८६.



सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्टतः अंतःक्रोड़ाक्रोड़ी सागर की पुण्य-स्थिति बांध सकता है व मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्टतः पंद्रह क्रोड़ाक्रोड़ी सागर की पुण्य-स्थिति बांध सकता है। परंतु वे दोनों ही इतनी स्थिति नहीं भोग सकते; क्योंकि त्रस की उत्कृष्टि स्थिति दो हजार सागर की है। सम्यग्दृष्टि जीव की स्वभाव पर दृष्टि होनेसे वह पुण्य-स्थिति को क्रमशः तोड़कर मोक्ष में चला जाएगा तथा मिथ्यादृष्टि जीव पर से तथा पुण्य से लाभ मानता होनेसे क्रमशः पुण्य-स्थिति को तोड़कर, पाप-परिणाम कर निगोद में चला जाएगा। अतः यथार्थता समझनी चाहिए। ८८७.



प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि भी पर द्रव्यों को बुरा जानकर उनका त्याग करता है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि पर द्रव्यों को बुरा नहीं जानता, वह तो अपने राग-भाव को ही बुरा मानता है। स्वयं सराग भाव को छोड़ता है तब उसके कारणों का भी त्याग हो जाता है। वस्तु-विचारणा में तो कोई भी पर द्रव्य भला-बुरा नहीं है। पर द्रव्य तो आत्मा का

एकरूप ज्ञेय है। एकरूपता में अनेकरूपता की कल्पना कर, एक द्रव्य को इष्ट तथा अन्य द्रव्य को अनिष्ट मानना, मिथ्याबुद्धि है।

८८८.



अज्ञानी की उदासीनता में केवल शोक ही होता है, क्योंकि उसे यह पता ही नहीं है कि एक पदार्थ की पर्याय में अन्य पदार्थ की पर्याय अकिंचित्कर है। अतः वह पर द्रव्य की पर्याय को बुरा जानकर, द्वेषपूर्वक उदासीनभाव करता है। परंतु पर द्रव्य के गुण-दोष ही न दिखना ही वास्तविक उदासीनता है। यानी ज्ञानी पर द्रव्य को गुण का अथवा दोष का कारण ही नहीं मानते। अपने को निजरूप तथा पर को पररूप जाने - वही सच्ची उदासीनता है। ८९०.



द्रव्यलिंगी विषय-सेवन छोड़कर, तपश्चरण करे तो भी वह असंयमी है। सिद्धांततः असंयत अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनि को हीन बतलाया है; क्योंकि उसका तो प्रथम गुणस्थान है। द्रव्यलिंगी दिगंबर साधु, नौ कोटि बाढ़ ब्रह्मचर्य-पालन करे, मंद कषाय करे; परंतु आत्मा का भान न होनेसे उसे चतुर्थ व पंचम गुणस्थानवाले ज्ञानी से हीन बतलाया है।

प्रश्न :- असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि को कषाय-प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी के राजपाट होता है, वह कदाचित् युद्ध में भी खड़ा होता है - ऐसी कषाय-प्रवृत्ति होती है; जबकि द्रव्यलिंगी के ऐसी कषाय-प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। द्रव्यलिंगी मुनि ग्रैवेयक पर्यंत जाता है तथा चतुर्थ - पंचम गुणस्थानवाला ज्ञानी सोलहवें स्वर्ग तक ही जाता है; तो फिर उससे द्रव्यलिंगी को हीन कैसे बतलाया ? द्रव्यलिंगी को भावलिंगी से हीन कहा (सो ठीक) परंतु चतुर्थ गुणस्थानवाले की अपेक्षा हीन क्यों बतलाया है ?

समाधान :- असंयत-देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है, परंतु उसकी श्रद्धा में कोई भी कषाय करने का अभिप्राय नहीं रहता। पर्याय में कषाय होती है, पर वह उसे हेय मानता है। द्रव्यलिंगी को तो शुभ-कषाय करने का अभिप्राय रहता है तथा उसे श्रद्धा में भला भी समझता है। ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में बहुत बड़ा अंतर है। अज्ञानी, मंदकषाय को उपादेय मानता है, अतः उसके एक भव का भी नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि, कषाय को हेय मानता है, अतः उसने अनंत भवों का नाश कर लिया है। इसीलिए अभिप्राय-अपेक्षा से चौथे तथा पाँचवें गुणस्थानवाले ज्ञानी की तुलना में द्रव्यलिंगी को हीन बतलाया है। द्रव्यलिंगी को वैराग्य भी प्रचुर होता है, परंतु अभ्यंतर दृष्टि कषायपर ही होती है। वह, अकषाय स्वभाव की दृष्टि न होनेसे मंद कषायरूप परिणाम को उपादेय मानता है। (इस प्रकार) ज्ञानी-अज्ञानी के अभिप्राय में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है। - इसीलिए यह कहा है कि ज्ञानी की तुलना में द्रव्यलिंगी मुनि के कषाय बहुत अधिक होती है। ८९५.



जिनके अंतर में भेदज्ञानरूपी कला जगी है, चैतन्य के आनंद का वेदन हुआ है - ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं। ऐसे ज्ञानी विषय-कषायों में मग्न हों - यह विपरीतता संभवित नहीं है। जिन जीवों को विषयों में सुखबुद्धि है, वे ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञानी के तो अंतर के चैतन्यसुख के अलावा समस्त विषय-सुख के प्रति उदासीनता होती है। अभी जिसको अंतर में आत्म-भान ही न हो, तत्त्वसंबंधी कुछ भी विवेक न हो, वैराग्य न हो और वह ध्यान में बैठ कर अपने को ज्ञानी माने तो वह स्वच्छंद-पोषण करता है; ज्ञान-वैराग्य शक्ति बिना वह पापी ही है। ९०५.



जो तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करता है उसको

समस्त आचरण अपने वीतरागभाव अनुसार भासित होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानपूर्वक आचरण पालते हैं। श्रावक को बारह व्रत का तथा मुनि को अट्टाइस मूल गुण के पालन का विकल्प आता है। मुनि को वस्त्र-पात्र रखने का भाव नहीं होता है। मुनि को तो मात्र संज्वलन कषाय होती है। उन्हें उपदेश देनेका, आहार का, कि विहार का राग आता है - वे सब उन्हें निज वीतरागतानुसार भासित होते हैं। ९०८.



अज्ञानी जीव शास्त्रों का रहस्य नहीं समझता, अतः उसका समस्त ज्ञान, कुज्ञान है। तथा सम्यग्दृष्टि कुशास्त्र पढ़े तो भी उसका ज्ञान, सुज्ञान है। जिसकी दृष्टि सुल्टी है उसका सब कुछ सुल्टा है व जिसकी दृष्टि उल्टी है उसका सारा ज्ञान उल्टा है। मिथ्यादृष्टि नौ पूर्व व ग्यारह अंग का पाठी हो तो भी उसे अज्ञान ही है।

९०९.



देखो ! सम्यक्त्व की महिमा ! कि जिसके बल से भोग भी निज-गुण का कुछ नहीं कर सकते। भगवान् सत् परमेश्वर है उसका स्वीकार करने से भोग भी अपने (वस्तु) गुणों का कुछ नहीं कर सकते अर्थात् वे विशेष बंध नहीं कर सकते। ज्ञानी, (पुरुषार्थवश) अस्थिरतारूपी राग का स्वामी नहीं होता, वह तो त्रिकाली स्वभाव का स्वामी होता है। जो इस प्रकार नहीं मानता, वह बाह्य दृष्टिवंत बहिर्आत्मा है। और अंतर्दृष्टि से अवलोकन करनेवाला अंतर्आत्मा है।

९१५.



प्रश्न :- समकिती जब भी चाहे तब शुद्धोपयोग ला सकता है न ?

उत्तर :- मैं शुद्धोपयोग लाऊँ - ऐसी समकिती को इच्छा ही

नहीं होती। इच्छा तो राग है व उससे शुद्धोपयोग नहीं आता। स्वभाव-सन्मुख होनेपर, इच्छा टूट जाती है। समकिती को अकषाय परिणमन तो सदा ही वर्तता है। छट्टे गुणस्थान में अकषाय परिणमन रहता है, परंतु शुद्धोपयोग नहीं होता। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में शुद्ध परिणति सदा ही रहती है परंतु शुद्धोपयोग सदा नहीं होता। स्वरूप में लीन होनेपर, बुद्धिपूर्वक-राग का अभाव होना ही शुद्धोपयोग है। स्वभाव-सन्मुख दृष्टि होनेके बाद कालक्रम में शुद्धोपयोग आता है। शुद्धोपयोग की भावना तो रहती है, परंतु शुद्धोपयोग को इच्छापूर्वक लाऊँ - समकिती को ऐसा लोभ नहीं होता। ९१६.



ज्ञानी को उपयोग का लोभ नहीं होता। सहज ही शुद्धोपयोग होता है। इच्छा का होना भावना नहीं, वरन् आस्रव है। ज्ञान में एकाग्रता होना ही भावना है। पर्याय का क्रम बदलने का अभिप्राय मिथ्यादृष्टि को होता है, यद्यपि क्रम नहीं बदलता। ज्ञानी, पुरुषार्थगुण को अलग करके कार्य नहीं करते। ज्ञानानंद स्वभाव के आश्रय से सहज शुद्ध उपयोग हो जाता है। ९१७.



परको छोड़ूँ अथवा राग को छोड़ूँ - यह बात तो रहती ही नहीं; बल्कि, शुद्ध उपयोग को लाने की भी बात नहीं है - यह वस्तु की मर्यादा है। शुद्धोपयोग का काल न हो, क्या उस समय ज्ञानी उसे लाना चाहता है ? क्या पर्याय-क्रम बदलना चाहता है ? नहीं ! ज्ञानस्वभाव - और जो पुरुषार्थ है उससे शुद्धोपयोग आ जाता है। जिस समय जो परिणाम होने हैं सो होंगे ही समकिती को उन्हें बदलने की बुद्धि नहीं होती। पर्याय-बदलने की बुद्धि तो मिथ्यादृष्टि को होती है। स्वभाव-सन्मुखदशा में उग्रता होते ही शुद्धोपयोग सहज ही हो जाता है। ९१८.



ज्ञानी का भी प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत दोनों ही तत्त्वों को जानने का क्षयोपशम है, फिर भी मिथ्यात्व के अभाव के कारण उसका प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने में लक्ष्य जाता रहनेसे, वह सुखी होता है। अज्ञानी कदाचित् व्यवहारधारणा तो करता है परंतु अंतर्दृष्टि नहीं करता, जिस कारण से वह अप्रयोजनभूत तत्त्व को ही जानता है। ९३५.



प्रतिज्ञा तो तत्त्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सम्यग्दर्शन होनेके बाद व्रतादि के शुभ विकल्प आते हैं। आनंदस्वभाव में लीन होऊँ - धर्मी की ऐसी भावना होती है। प्रतिज्ञा लिए बिना आसक्ति का नाश नहीं होता। प्रथम तो स्वभाव का भान होना चाहिए। ९४९.



जैसे किसीने संगीत-शास्त्रादि का अध्ययन किया हो या न किया हो परंतु यदि वह स्वरादि के स्वरूप को पहचानता है तो वह चतुर है। वैसे ही किसीने शास्त्राभ्यास किया हो या न किया हो पर यदि उसे जीव के भाव का भासन है तो वह सम्यग्दृष्टि है। पुण्य-पाप दुःखदायक है, अधर्म है; राग रहित परिणाम शांति दायक है; मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ, तथा शरीर, कर्म आदि अजीव हैं। - जिसे इस प्रकार भाव-भासन हो वही सम्यग्दृष्टि है। कदाचित् वर्तमान में शास्त्र का बहुत अभ्यास न हो तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है। ९५३.



आत्मा में जो पंच महाव्रत-भक्ति आदि के परिणाम होते हैं सो शुभराग है, आस्रव है। उस राग को आस्रव मानना व उसे ही संवर भी मानना तो भ्रम है। एक शुभराग है - वह आस्रव और संवर दोनों का ही कारण कैसे हो सकता है ? मिश्र भाव का ज्ञान तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। सम्यग्दृष्टि को भी जितना रागांश है, वह धर्म नहीं है। राग रहित व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप

भाव ही धर्म है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना वीतरागभाव हुआ उतना संवर धर्म है; तथा उसी समय जो रागांश है सो आस्रव है। एक ही समय में ऐसे दोनों भाव मिश्ररूप हैं। धर्मी जीव उन दोनों को भिन्न-भिन्न पहचानता है। प्रथम व्यवहार व बाद में निश्चय - ऐसा नहीं है। व्यवहार का शुभराग तो आस्रव है। आस्रव, संवर का कारण कैसे हो सकता है ?

प्रथम व्यवहार (करो) और वह व्यवहार करते-करते निश्चय होता है - इस दृष्टि के कारण ही तो सनातन जैन-परंपरा से भटक कर श्वेतांबर हुए हैं। और दिगंबर संप्रदाय में रहकर भी यदि कोई ऐसा माने कि राग करते-करते धर्म होगा, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा - तो ऐसी मान्यतावाले श्वेतांबर जैसे ही अभिप्रायवाले हैं, उन्हें 'दिगंबर जैन धर्म' का पता ही नहीं है। ९५५.



पर्याय में अपने ही कारण से अशुद्धता है - ऐसा न मानकर, यों माने कि अकेला आत्मा ही शुद्ध है, तो वह निश्चायाभासी है। भक्ति आदि का राग तो मुनि को भी आता है, फिर भी ऐसा माननेवाला कि निचली भूमिका में वैसा राग नहीं होता - निश्चायाभासी है। तथा जो राग होता है उसे आदरणीय माननेवाला व्यवहाराभासी है। - वे दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं।

चौदहवें गुणस्थान पर्यंत असिद्धत्वभाव होता है - जो ऐसा न माने तो वास्तव में निश्चय को ही नहीं जाना। यहाँ निश्चायावलंबी का अर्थ निश्चय को जानना नहीं है परंतु ऐसा अर्थ है कि निश्चय की बातें करता है लेकिन निश्चय को यथार्थरूप से नहीं जानता। यदि कोई जीव निश्चायाभास के श्रद्धानवाला होकर अपने को मोक्षमार्गी माने तो वह तो निश्चय-व्यवहार - दोनों ही को यथार्थरूप से नहीं जानता।

९७४.



निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो प्रत्यक्ष देखे जाते हैं तो उनमें बंधन नहीं है - क्या ऐसा कहा जा सकता है ? जो यदि बंधन न हो तो मोक्षमार्गी उनके नाश का उद्यम क्यों करते हैं ?

जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी तो मानता है कि 'स्त्री देह हो फिर भी मुक्ति होती है' वह निमित्त-नैमित्तिक संबंध को नहीं मानता। स्त्री, तो तीन काल में भी छट्टे गुणस्थान तक नहीं चढ़ पाती - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। क्योंकि स्त्री-देह में रहे हुए जीव की ऐसी ही योग्यता होती है तथा ऐसा न स्वीकार करनेवाला गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

वीतराग-मार्ग तो अलौकिक है। लोग निज-कल्पना से जैसा मानते हैं वैसा वह मार्ग नहीं है। आँख में कण एक बार भले ही सहन हो जाए, परंतु सच्चे मार्ग में तिल-भर भूल भी नहीं चलती - यह समझ लेना चाहिए।

आत्मा में भाव-बंधन ही न हो तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानानंद स्वभाव में स्थिर होकर विकार का नाश किसलिए करता है ? अतः पर्याय में बंधन है - ऐसा समझ लेना चाहिए। ९८०.



सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प-अनुभव में नहीं रह सकते, इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यास के भाव उठते हैं - ऐसे शुभराग को, निर्विकल्प-अनुभव की अपेक्षा हेय कहा है। निर्विकल्प-अनुभव में रहना तो सर्वोत्तम है। परंतु छद्मस्थ का उपयोग निचली दशा में 'आत्मस्वरूप में' अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता, अतः ज्ञानकी विशेष निर्मलता हेतु शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है। निश्चायाभासी तो उसका सर्वथा निषेध करता है। परंतु अरे भाई ! तुझे अन्य राग तो आते हैं तो फिर शास्त्राभ्यास ही में उपयोग लगाना योग्य है। उसमें जो राग है सो तो दोष है, परंतु तीव्र (अप्रशस्त) राग की अपेक्षा शास्त्राभ्यास में संलग्न रहना योग्य है।

सम्यग्दर्शन होनेपर कोई पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी राग तो आता है। हाँ, जो निर्विकल्प आनंद में ज्ञानपर्याय एकाग्र हो जाए तो श्रेयस्कर है, परंतु जब निर्विकल्प आनंद में न रह सके तब स्वाध्याय-पूजा, देव-गुरु की भक्ति आदि प्रशस्त राग-कार्यों को छोड़कर, विकथा आदि निंदनीय प्रवृत्तियों में लगने से तो महान अनर्थ होता है। ९८३.



किसी ज्ञानी का धारणाज्ञान अल्प भी हो परंतु प्रयोजनभूतज्ञान तो समीचीन होता है, अतः विरोध नहीं होता। वह कदाचित् विशेष स्पष्टीकरण न कर सके, परंतु उसे स्वभाव की अपेक्षा तथा परकी उपेक्षा होनेसे, ज्ञान प्रति समय विशेष-विशेष निर्मल होता जाता है। उसे सामान्य की तुलना में अधिक बलवान समझना चाहिए। ९८५.



आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण है - ऐसा अंतरभान न हुआ, और पुण्य छोड़कर पाप में प्रवर्तन करे तथा शास्त्र की ओट लेकर कहे कि 'मुझे भी सम्यग्दृष्टि के समान बंधन नहीं है' तो वह निश्चयाभासी - मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को तो पर्याय का विवेक वर्तता है। ९८८.



स्व-पर जानना कोई उपाधि नहीं है तथा विकार का कारण भी नहीं है। अज्ञानी कहता है कि 'मुझे परद्रव्य को जानने से रागादि होते हैं, अतः किसीको भी पर द्रव्य का लक्ष्य नहीं करना चाहिए'तो वह स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान की स्वच्छता को ही नहीं जानता। ज्ञानी तो जो कुछ भी जानता है उसे सम्यग्ज्ञान की स्वच्छता ही समझता है, उसमें राग का अभिप्राय नहीं होता। अतः उसे ज्ञाताभाव से जितना ज्ञान होता है उतनी ही वीतरागता है। ९९१.



चैतन्य के अनुभव की खुमारी - धर्मी का चित्त - अन्य कहीं

नही लगने देती। वह तो स्वानुभव के शांत रससे तृप्त-तृप्त है। वह तो चैतन्य के आनंद की मस्ती में इतना मस्त है कि अब अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहा। १००१.



अहो ! महान संत-मुनिवरों ने जंगल में रहकर आत्म-स्वभाव का अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। आचार्यदेव तो धर्म के स्तंभ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को जीवंत कर रखा है...गजब का काम किया है ! साधकदशा में स्वरूप की शांति-वेदन करते हुए परीषहों को जीत कर, परम सत्को अक्षुण्णरूप से जीवंत रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झंकार गूँजती है। ऐसे महान् शास्त्रों की रचना कर उन्होंने ने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो ! पद-पद में कितना गंभीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य का शंखनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महा भाग्य की बात है; तथा उसकी समझ तो मुक्ति का वरण करने जानेके लिए श्री-फल समान है; जो समझे उसका तो मोक्ष ही (होनेवाला) है।

१००६.



अहो ! श्री सत्पुरुष के वचनमृतं जगहितकरं।
मुद्रा अरु सत्समागम सुति चेतना जाग्रतकरं।।

- श्रीमद् राजचंद्रजी

['बहिनश्री के वचनमृत' में से उद्धृत रत्न]

ज्ञानी की परिणति सहज होती है। हर एक प्रसंग में भेदज्ञान को याद करके उसे धोखना नहीं पड़ता, परंतु उनके तो ऐसा सहज परिणमन ही हो जाता है - आत्मा में धारावाही परिणमन वर्तता ही रहता है। ३.



मुमुक्षुओं तथा ज्ञानियों को अपवादमार्ग का या उत्सर्गमार्ग का आग्रह नहीं होता, परंतु जिससे अपने परिणाम में आगे बढ़ा जा सके उस मार्ग को ग्रहण करते हैं। किन्तु यदि एकांत उत्सर्ग या एकांत अपवाद की हठ करे तो उसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप की ही खबर नहीं है। ११.



जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई उसकी दृष्टि अब चैतन्य के तल पर ही लगी है। उसमें परिणति एकमेक हो गई है। चैतन्य-तल में ही सहज दृष्टि है। स्वानुभूति के काल में या बाहर उपयोग हो तब भी तल परसे दृष्टि नहीं हटती, दृष्टि बाहर जाती ही नहीं। ज्ञानी चैतन्य के पाताल में पहुँच गये हैं; गहरी-गहरी गुफा में, बहुत गहराई तक पहुँच गये हैं; साधना की सहज दशा साधी हुई है। १२.



ज्ञानी के अभिप्राय में राग है वह जहर है, काला साँप है। अभी आसक्ति के कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं, राग है, परंतु अभिप्राय

में काला साँप लगता है। ज्ञानी विभाव के बीच खड़े होने पर भी विभाव से पृथक् हैं - न्यारे हैं। १९.



सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य की ऐसी शक्ति प्रगट हुई है कि गृहस्थाश्रम में होने पर भी, सभी कार्यों में स्थित होने पर भी, लेप नहीं लगता, निर्लेप रहते हैं; ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं; अल्प अस्थिरता है वह अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होती है, उसके भी ज्ञाता रहते हैं। ३१.



सम्यग्दृष्टि को आत्मा के सिवा बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता, जगत की कोई वस्तु सुंदर नहीं लगती। जिसे चैतन्य की महिमा एवं रस लगा है उसको बाह्य विषयों का रस टूट गया है, कोई पदार्थ सुंदर या अच्छा नहीं लगता। अनादि अभ्यास के कारण, अस्थिरता के कारण अंदर स्वरूप में नहीं रहा जा सकता इसलिये उपयोग बाहर आता है परंतु रस के बिना - सब निःसार, छिलकों के समान, रस-कस शून्य हो ऐसे भाव से - बाहर खड़े हैं। ३२.



सहज दशा को विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता। यदि विकल्प करके बनाये रखना पड़े तो वह सहज दशा ही नहीं है। तथा प्रगट हुई दशा को बनाये रखने का कोई अलग पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; क्योंकि बढ़ने का पुरुषार्थ करता है जिससे वह दशा तो सहज ही बनी रहती है। ३९.



साधक दशा में शुभ भाव बीच में आते हैं, परंतु साधक उन्हें छोड़ता जाता है; साध्य का लक्ष नहीं चूकता। - जैसे मुसाफिर एक नगर से दूसरे नगर जाता है तब बीच में अन्य-अन्य नगर आयें उन्हें छोड़ता जाता है, वहाँ रुकता नहीं है; जहाँ जाना है वहीं का

लक्ष रहता है। ४०.



अंतर का तल खोजकर आत्मा को पहिचान। शुभ परिणाम, धारणा आदि का थोड़ा पुरुषार्थ करके 'मैंने बहुत किया है' ऐसा मानकर, जीव आगे बढ़ने के बदले अटक जाता है। अज्ञानी को जरा कुछ आ जाय, धारणा से याद रह जाय, वहाँ उसे अभिमान हो जाता है; क्योंकि वस्तु के अगाध स्वरूप का उसे खयाल नहीं है; इसलिये वह बुद्धि के विकास आदि में संतुष्ट होकर अटक जाता है। ज्ञानी को पूर्णता का लक्ष होने से वह अंश में नहीं अटकता। पूर्ण पर्याय प्रगट हो तो भी स्वभाव था सो प्रगट हुआ इसमें नया क्या है ? इसलिये ज्ञानी को अभिमान नहीं होता। ४५.



ज्ञानि को दृष्टि-अपेक्षा से चैतन्य एवं राग की अत्यंत भिन्नता भासती है, यद्यपि वे ज्ञानमें जानते हैं कि राग चैतन्य की पर्याय में होता है। ५८.



बाह्य में सब कुछ हो उसमें - भक्ति उल्लास के कार्य हों उनमें भी - आत्मा का आनंद नहीं है। जो तलमें से आये वही आनंद सच्चा है। ६६.



धन्य वह निर्ग्रथ मुनिदशा ! मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी। मुनि को अंतर में चैतन्य के अनंत गुण-पर्यायों का देहमात्र परिग्रह होता है; विभाव बहुत छूट गया होता है। बाह्य में श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूतपने से देहमात्र परिग्रह होता है। प्रतिबंधरहित सहज दशा होती है; शिष्यों को बोध देने का अथवा ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं होता। स्वरूप में लीनता वृद्धिगत होती है। ७१.



अखण्ड द्रव्य को ग्रहण करके प्रमत्त-अप्रमत्त स्थिति में झूले वह मुनिदशा। मुनिराज स्वरूप में निरंतर जागृत हैं। मुनिराज जहाँ जागते हैं वहाँ जगत सोता है, जगत जहाँ जागता है वहाँ मुनिराज सोते हैं। 'मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें।' ७२.



द्रव्य तो निवृत्ति ही है। उसका दृढता से अवलंबन लेकर भविष्य के विभाव से भी निवृत्त होओ। मुक्ति तो जिनके हाथ में आ गई है ऐसे मुनियों को भेदज्ञान की तीक्ष्णता से प्रत्याख्यान होता है। ७३.



जिन्होंने चैतन्यधाम को पहिचान लिया है वे स्वरूप में ऐसे सो गये कि बाहर आना अच्छा ही नहीं लगता। जैसे अपने महल में सुख से रहनेवाले चक्रवर्ती राजा को बाहर निकलना सुहाता ही नहीं, वैसे ही जो चैतन्य-महल में विराज गये हैं उन्हें बाहर आना कठिन लगता है, भाररूप लगता है; आँख से रेत उठवाने जैसा दुष्कर लगता है। जो स्वरूप में ही आसक्त हुआ उसे बाहर की आसक्ति टूट गई है। ७५.



स्वरूप की लीला जात्यंतर है। मुनिराज चैतन्य के बाग में क्रिड़ा करते-करते कर्म के फल का नाश करते हैं। बाह्य में आसक्ति थी उसे तोड़कर स्वरूप में मंथर - स्वरूप में लीन - हो गये हैं। स्वरूप ही उनका आसन, स्वरूप ही निद्रा, स्वरूप ही आहार है; वे स्वरूप में ही लीला, स्वरूप में ही विचरण करते हैं। संपूर्ण श्रामण्य प्रगट करके वे लीलामात्र में श्रेणी माँड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। ७८.



'मुझे पर की चिंता का क्या प्रयोजन ? मेरा आत्मा सदैव अकेला

है' ऐसा ज्ञानी जानते हैं। भूमिकानुसार शुभ भाव आये परंतु अंतर में एकाकीपने की प्रतीतिरूप परिणति निरंतर बनी रहती है। ८७.



मुनिराज को एकदम स्वरूपपरमणता जागृत है। स्वरूप कैसा है ? ज्ञान, आनंदादि गुणों से निर्मित है। पर्याय में समताभाव प्रगट है। शत्रु-मित्र के विकल्प रहित है; निर्मानता है; 'देह जाय पर माया होय न रोममें;' सोना हो या तिनका - दोनों समान हैं। चाहे जैसे संयोग हों - अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलता में खेद नहीं करते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़े त्यों-त्यों समरसभाव विशेष प्रगट होता जाता है। ८९.



अहा ! आत्मा अलौकिक चैतन्यचंद्र है, जिसका अवलोकन करने से मुनियों को वैराग्य उछल पड़ता है। मुनि शीतल-शीतल चैतन्यचंद्र को निहारते हुए अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं। ९१.



ज्ञानी को दृष्टि द्रव्यसामान्य पर ही स्थिर रहती है, भेदज्ञान की धारा सतत बहती है। ९३.



मुनि असंगरूप से आत्मा की साधना करते हैं, स्वरूप-गुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिंग है। ९५.



सम्यग्दृष्टि को ऐसा निःशंक गुण होता है कि चौदह ब्रह्माण्ड उलट जाँय तथापि अनुभव में शंका नहीं होती। १०१.



यदि वर्तमान में ही चैतन्य में संपूर्णरूप से स्थिर हुआ जा सकता हो तो दूसरा कुछ नहीं चाहिये ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि के होती है।

मुनि एक-एक अंतर्मुहूर्त में स्वभाव में डुबकी लगाते हैं। अंतर में निवास के लिये महल मिल गया है, उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता। मुनि किसी प्रकार का बोझ नहीं लेते। अंदर जायें तो अनुभूति और बाह आयें तो तत्त्वचिंतन आदि। साधकदशा इतनी बढ़ गई है कि द्रव्य से तो कृतकृत्य हैं ही परंतु पर्याय में भी अत्यंत कृतकृत्य हो गये हैं। ११३.



निरालंब चलना वह वस्तु का स्वभाव है। तू किसी के आश्रय बिना चैतन्य में चला जा। आत्मा सदा अकेला ही है, आप स्वयंभू है। मुनियों के मन की गति निरालंब है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की निरालंबी चाल प्रगट हुई उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। ११७.



आत्मा तो ज्ञाता है। आत्मा की ज्ञातृत्वधारा को कोई रोक नहीं सकता। भले रोग आये या उपसर्ग आये, आत्मा तो निरोग और निरुपसर्ग है। उपसर्ग आया तो पांडवों ने अंतर में लीनता की, तीनने तो केवलज्ञान प्रगट किया। अटके तो अपने से अटकता है, कोई अटकाता नहीं है। १२८.



ज्ञानी चैतन्य की शोभा निहारने के लिये कुतूहलबुद्धिवाले - आतुर होते हैं। अहा ! उन परम पुरुषार्थी महाज्ञानियों की दशा कैसी होगी जो अंदर जाने पर बाहर आते ही नहीं ! धन्य वह दिवस जब बाहर आना ही न पड़े। १३३.



मुनिने सर्व विभावों पर विजय पाकर प्रब्रज्यारूप साम्राज्य प्राप्त किया है। विजयपताका फहरा रही है। १३४.



अज्ञानी जीव को अनादि काल से विभाव का अभ्यास है; मुनि

को स्वभाव का अभ्यास वर्तता है। स्वयं ने अपनी सहज दशा प्राप्त की है। उपयोग जरा भी बाहर जाय कि तुरंत सहजरूप से अपनी ओर ढल जाता है। बाहर आना पड़े वह बोझ - उपाधि लगती है। मुनियों को अंतर में सहज दशा - समाधि है। १४१.



सम्यग्दर्शन होते ही जीव चैतन्यमहल का स्वामी बन गया। तीव्र पुरुषार्थी को महल का अस्थिरतारूप कचरा निकालने में कम समय लगता है, मंद पुरुषार्थी को अधिक समय लगता है; परंतु दोनों अल्प-अधिक समय में सब कचरा निकालकर केवलज्ञान अवश्य प्राप्त करेंगे ही। १६८.



विभावों में और पाँच परावर्तनों में कहीं विश्रांति नहीं है। चैतन्यगृह ही सच्चा विश्रांतिगृह है। मुनिवर उसमें बारंबार निर्विकल्परूप से प्रवेश करके विशेष विश्राम पाते हैं। बाहर आये नहीं कि अंदर चले जाते हैं। १६९.



जैसे कोई राजमहल को पाकर फिर बाहर आये तो खेद होता है, वैसे ही सुखधाम आत्मा को प्राप्त करके बाहर आ जाने पर खेद होता है। शांति और आनंद का स्थान आत्मा ही है, उसमें दुःख एवं मलिनता नहीं है - ऐसी दृष्टि तो ज्ञानी को निरंतर रहती है। १७२.



'मैं हूँ चैतन्य।' जिसे घर नहीं मिला है ऐसे मनुष्य को बाहर खड़े-खड़े बाहर की वस्तुएँ, धमाल देखने पर अशांति रहती है; परंतु जिसे घर मिल गया है उसे घरमें रहते हुए बाहर की वस्तुएँ, धमाल देखने पर शांति रहती है; उसी प्रकार जिसे चैतन्य-घर मिल गया है, दृष्टि प्राप्त हो गई है, उसे उपयोग बाहर जाय तब भी शांति

रहती है। १७४.



साधक जीव को अपने अनेक गुणों की पर्यायें निर्मल होती हैं, खिलती हैं। जिस प्रकार नंदनवन में अनेक वृक्षों के विविध प्रकार के पत्र-पुष्प-फलादि खिल उठते हैं, उसी प्रकार साधक आत्मा को चैतन्यरूपी नंदनवन में अनेक गुणों की विविध प्रकार की पर्यायें खिल उठती हैं। १७५.



चैतन्य की स्वानुभूतिरूप खिले हुए नंदनवन में साधक आत्मा आनंदमय विहार करता है। बाहर आने पर कहीं रस नहीं आता। १७७.



निर्विकल्प दशा में 'यह ध्यान है, यह ध्येय है' ऐसे विकल्प टूट चुकते हैं। यद्यपि ज्ञानी को सविकल्प दशा में भी दृष्टि तो परमात्मतत्त्व पर ही होती है, तथापि पंचपरमेष्ठी, ध्याता-ध्यान-ध्येय इत्यादि संबंधी विकल्प भी होते हैं; परंतु निर्विकल्प स्वानुभूति होने पर विकल्पजाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प नहीं रहते। उग्र निर्विकल्प दशा में ही मुक्ति है। - ऐसा मार्ग है। १८१.



मुनिराज कहते हैं :- चैतन्यपदार्थ पूर्णता से भरा है। उसके अंदर जाना और आत्मसंपदा की प्राप्ति करना वही हमारा विषय है। चैतन्य में स्थिर होकर अपूर्वता की प्राप्ति नहीं की, अवर्णनीय समाधि प्राप्त नहीं की, तो हमारा जो विषय है वह हमने प्रगट नहीं किया। बाहर में उपयोग आता है तब द्रव्य-गुण-पर्याय के विचारों में रुकना होता है, किन्तु वास्तव में वह हमारा विषय नहीं है। आत्मा में नवीनताओं का भण्डार है। भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा यदि वह नवीनता - अपूर्वता प्रगट नहीं की, तो मुनिपने में जो करना था वह हमने नहीं

किया। १८५.



गृहस्थाश्रम में वैराग्य होता है परंतु मुनिराज का वैराग्य कोई और ही होता है। मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं। १८६.



मुनि आत्मा के अभ्यास में परायण हैं। वे बारंबार आत्मा में जाते हैं। सविकल्प दशा में भी मुनिपने की मर्यादा लाँघकर विशेष बाहर नहीं जाते। मर्यादा छोड़कर विशेष बाहर जायँ तो अपनी मुनिदशा ही न रहे। १८७.



जो न हो सके वह कार्य करने की बुद्धि करना मूर्खता की बात है। अनादि से यह जीव जो नहीं हो सकता उसे करने की बुद्धि करता है और जो हो सकता है वह नहीं करता। मुनिराज को पर के कर्तृत्व की बुद्धि तो छूट गई है और आहार-विहारादि के अस्थिरतारूप विकल्प भी बहुत ही मंद होते हैं। उपदेश का प्रसंग आये तो उपदेश देते हैं, परंतु विकल्प का जाल नहीं चलता। १८८.



दृष्टि की डोर हाथ में रख। सामान्य स्वरूप को ग्रहण कर, फिर भले ही सब ज्ञान हो। ऐसा करते-करते अंतर में विशेष लीनता होगी, साधक दशा बढ़ती जायगी। देशव्रत और महाव्रत सामान्य स्वरूप के आलंबन से आते हैं; मुख्यता निरंतर सामान्य स्वरूप की - द्रव्य की होती है। १९१.



आत्मा तो निवृत्तस्वरूप - शांतस्वरूप है। मुनिराज को उसमें से बाहर आना प्रवृत्तिरूप लगता है। उच्चे से उच्च शुभभाव भी उन्हें बोझरूप लगते हैं - मानों पर्वत उठाना हो। शाश्वत आत्मा की ही

उग्र धुन लगी है। आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदनमें से बाहर आना नहीं सुहाता। १९२.



सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायक को ज्ञायक द्वारा ही अपने में धारण कर रखता है, टिकाए रखता है, स्थिर रखता है - ऐसी सहज दशा होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव को तथा मुनि को भेदज्ञान की परिणति तो चलती ही रहती है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को उसकी दशा के अनुसार उपयोग अंतर में जाता है और बाहर आता है; मुनिराज को तो उपयोग अति शीघ्रता से बारंबार अंतर में उतर जाता है। भेदज्ञान की परिणति - ज्ञातृत्वधारा - दोनों के चलती ही रहती है। उन्हें भेदज्ञान प्रगट हुआ तबसे कोई काल पुरुषार्थ रहित नहीं होता। अविरत सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान के अनुसार और मुनि को छठवें-सातवें गुणस्थान के अनुसार पुरुषार्थ वर्तता रहता है। पुरुषार्थ के बिना कहीं परिणति स्थिर नहीं रहती। सहज भी है, पुरुषार्थ भी है। १९३.



जीव को अटकने के जो अनेक प्रकार हैं उन सबमें से विमुख हो और मात्र चैतन्यदरबार में ही उपयोग को लगा दे; अवश्य प्राप्ति होगी ही। अनंत-अनंत काल से अनंत जीवों ने इसी प्रकार पुरुषार्थ किया है, इसलिये तू भी ऐसा कर।

अनंत-अनंत काल गया, जीव कहीं न कहीं अटकता ही है न? अटकने के तो अनेक-अनेक प्रकार हैं; किन्तु सफल होनेका एक ही प्रकार है - वह है चैतन्यदरबार में जाना। स्वयं कहाँ अटकता है उसका यदि स्वयं खयाल करे तो बराबर जान सकता है

द्रव्यलिंगी साधु होकर भी जीव कहीं सूक्ष्मरूप से अटक जाता है, शुभ भाव की मिठास में रुक जाता है, 'यह राग की मंदता, यह अट्टाईस मूलगुण, - बस यही मैं हूँ, यही मोक्ष का मार्ग है,'

इत्यादि किसी प्रकार संतुष्ट होकर अटक जाता है; परंतु यह अंतर में विकल्पों के साथ एकताबुद्धि तो पड़ी ही है उसे क्यों नहीं देखता? अंतर में यह शांति क्यों नहीं दिखायी देती? पापभाव को त्यागकर 'सर्वस्व कर लिया' मानकर संतुष्ट हो जाता है। सच्चे आत्मार्थी को तथा सम्यग्दृष्टि को तो 'अभी बहुत बाकी है, बहुत बाकी है' - इस प्रकार पूर्णता तक बहुत बाकी है ऐसी ही भावना रहती है और तभी पुरुषार्थ अखण्ड रह पाता है।

गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वीने मूल को पकड़ लिया है, (दृष्टि-अपेक्षा से) सब कुछ कर लिया है, अस्थिरता रूप शाखाएँ-पत्ते जरूर सूख जायँगे। द्रव्यलिंगी साधुने मूल को ही नहीं पकड़ा है, उसने कुछ किया ही नहीं। बाह्यदृष्टि लोगों को ऐसा भले ही लगे कि 'सम्यक्त्वी को अभी बहुत बाकी है और द्रव्यलिंगी मुनिने बहुत कर लिया,' परंतु ऐसा नहीं है। परीषह सहन करे किन्तु अंतर में कर्तृत्वबुद्धि नहीं टूटी, आकुलता का वेदन होता है, उसने कुछ किया ही नहीं। १९९.



ज्ञानी ने चैतन्य का अस्तित्व ग्रहण किया है। अभेद में ही दृष्टि है : 'मैं तो ज्ञानानंदमय एक वस्तु हूँ।' उसे विश्रांति का महल मिल गया है, जिसमें अनंत आनंद भरा है। शांति का स्थान, आनंद का स्थान - ऐसा पवित्र उज्ज्वल आत्मा है। वहाँ - ज्ञायक में - रहकर ज्ञान सब करता है परंतु दृष्टि तो अभेद पर ही है। ज्ञान सब करता है परंतु दृष्टि का जोर इतना है कि अपने को अपनी ओर खींचता है। २०६.



लोगों का भय त्याग कर, शिथिलता छोड़कर, स्वयं दृढ़ पुरुषार्थ करना चाहिए। 'लोग क्या कहेंगे' ऐसा देखने से चैतन्यलोक में नहीं पहुँचा जा सकता। साधक को एक शुद्ध आत्मा का ही संबंध होता है। निर्भयरूप से उग्र पुरुषार्थ करना, बस ! वही लोकाग्र में जानेवाला

साधक विचारता है। २१३.



कोई एकांत में निवास करनेवाला - एकांतप्रिय - मनुष्य हो, उसे जबरन् बाह्य कार्य में लगना पड़े तो वह ऊपरी दृष्टि से लगता हुआ दिखता अवश्य है, परंतु कौन जानता है कि वह बाह्य में आया है या नहीं !! अथवा कोई अति दुर्बल मनुष्य हो और उसके सिर पर कोई कार्य का बोझ रख दे तो उसे कितना कठिन लगता है ? उसी प्रकार ज्ञानी को ज्ञानधारा वर्तने के कारण बाह्य कार्यों में लगना बोझरूप लगता है। २१८.



मुनि बारंबार आत्मा के उपयोग की आत्मा में ही प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी दशा निराली, पर के प्रतिबंध से रहित, केवल ज्ञायक में प्रतिबद्ध, मात्र निजगुणों में ही रमणशील, निरालंबी होती है। मुनिराज मोक्षपंथ में प्रयाण आरंभ किया उसे पूर्ण करते हैं। २२२.



अंतरात्मा तो दिन और रात अंतरंग में आत्मा, आत्मा और आत्मा - ऐसा करते-करते, अंतरात्मभावरूप परिणमते - परिणमते, परमात्मा हो जाता है। २२४.



मुनि को संयम, नियम और तप - सब में आत्मा समीप होता है। अहा ! तू तो आत्मा की साधना करने निकला है.... वहाँ यह लौकिक जनों के परिचय का रस क्यों ?

तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःख से छूटने की भावना हो, तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्मा के संग में रहना।

लौकिक संग तेरा पुरुषार्थ मंद होनेका कारण होगा। विशेष गुणी का संग तेरे चैतन्यतत्त्व को निहारने की परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्संग में तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे, परंतु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्संग करेगा तो अपनी परिणति मंद पड़ जायेगी।

- यह तो स्वरूप में झूलते हुए मुनियों को (आचार्यदेव की) सीख है। निश्चय-व्यवहार की संधि ही ऐसी है।... २२९.



आत्मा तो आश्चर्यकारी चैतन्यमूर्ति ! प्रथम तो उसे चारों ओर से पहिचानकर, पश्चात् नय-प्रमाणादि के पक्ष छोड़कर अंतर में स्थिर हो जाना। तब अंतर में ही मुक्त स्वरूप प्रगट होगा। स्वरूप में स्थिर हुए ज्ञानी ही साक्षात् अतीन्द्रिय आनंदामृत का अनुभव करते हैं - 'त एव साक्षात् अमृतं पिबंति।' २३०.



ज्ञाता का ध्यान करते-करते आत्मा ज्ञानमय हो गया, ध्यानमय हो गया - एकाग्रतामय हो गया। अंदर चैतन्य के नंदनवन में उसे सब कुछ मिल गया; अब बाहर क्यों जाये ? ग्रहण करने योग्य आत्मा को ग्रहण कर लिया, छोड़ने योग्य सब छूट गया; अब किसलिये बाहर जाये ? २३२.



हे आत्मा ! यदि तुझे विभाव से छूटकर मुक्तदशा प्राप्त करनी हो तो चैतन्य के अभेद स्वरूप को ग्रहण कर। द्रव्यदृष्टि सर्व प्रकार की पर्याय को दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्य स्वरूप को ग्रहण करती है; द्रव्यदृष्टि के विषय में गुणभेद भी नहीं होते। ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट कर।

ऐसी दृष्टि के साथ वर्तता हुआ ज्ञान वस्तु में विद्यमान गुणों तथा पर्यायों को, अभेद तथा भेद को, विविध प्रकार से जानता है। लक्षण, प्रयोजन इत्यादि अपेक्षा से गुणों में भिन्नता है और वस्तु-अपेक्षा से अभेद है ऐसा ज्ञान जानता है। 'इस आत्मा की यह पर्याय

प्रगट हुई, यह सम्यग्दर्शन हुआ, यह मुनिदशा हुई, यह केवलज्ञान हुआ - इस प्रकार सब महिमावंत पर्यायों को तथा अन्य सर्व पर्यायों को ज्ञान जानता है। ऐसा होने पर भी शुद्ध दृष्टि (सामान्य के सिवा) किसी प्रकार में नहीं रुकती।

साधक जीव को भूमिकानुसार देव-गुरु की महिमा के, श्रुतचिंतवन के, अणुव्रत-महाव्रत के इत्यादि विकल्प होते हैं, परंतु वे ज्ञायकपरिणति को भाररूप हैं क्योंकि स्वभाव से विरुद्ध हैं। अपूर्ण दशा में वे विकल्प होते हैं; स्वरूप में एकाग्र होने पर, निर्विकल्प स्वरूप में निवास होने पर, वे सब छूट जाते हैं। पूर्ण वीतराग दशा होने पर सर्व प्रकार के राग का क्षय होता है।

- ऐसी साधकदशा प्रगट करने योग्य है। २३७.



शुभ का व्यवहार भी असार है, उसमें रुकने जैसा नहीं है। कोई मनुष्य नगर का ध्येय बनाकर चलने लगे तो बीच-बीच में ग्राम, खेत, वृक्षादि सब आते हैं, परंतु वह सब छोड़ता जाता है; उसी प्रकार साधक को यह शुभादिका व्यवहार बीच में आता है परंतु साध्य तो पूर्ण शुद्धात्मा ही है। इसलिये वह व्यवहार को छोड़ता हुआ पूर्ण शुद्धात्मस्वरूप में ही पहुँच जाता है। २३९.



आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ हो, फिर चक्रवर्ती आराम से बैठा नहीं रहता, छह खण्ड को साधने जाता है; उसी प्रकार यह चैतन्यचक्रवर्ती जागृत हुआ, सम्यग्दर्शनरूपी चक्ररत्न प्राप्त हुआ, अब तो अप्रमत्त भाव से केवलज्ञान ही लेगा। २४६.



मुनियों को अंतर में पग-पग पर - पुरुषार्थ की पर्याय - पर्याय में - पवित्रता झरती है। २५०.



साधकदशा की साधना ऐसी कर कि जिससे तेरा साध्य पूरा हो। साधकदशा भी अपना मूल स्वभाव तो है नहीं। वह भी प्रयत्नरूप अपूर्ण दशा है, इसलिये वह अपूर्ण दशा भी रखने योग्य तो है ही नहीं। २५६.



साधना करनेवाले को कोई स्पृहा नहीं होती। मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिये, एक आत्मा ही चाहिये। इस क्षण वीतरागता होती हो तो दूसरा कुछ नहीं चाहिये; परंतु अंतर में नहीं रहा जाता, इसलिये बाहर आना पड़ता है। अभी केवलज्ञान होता हो तो बाहर ही न आयें। २६३.



ज्ञानी द्रव्य के आलंबन के बलसे, ज्ञान में निश्चय-व्यवहार की मैत्रीपूर्वक, आगे बढ़ता जाता है और चैतन्य स्वयं अपनी अद्भुतता में समा जाता है। २६७.



बाह्य रोग आत्मा की साधक दशा को नहीं रोक सकते, आत्मा की ज्ञातृ-त्वधारा को नहीं तोड़ सकते। पुद्गलपरिणतिरूप उपसर्ग कहीं आत्मपरिणति को नहीं बदल सकते। २६८.



यह जो बाह्य लोक है उससे चैतन्यलोक पृथक् ही है। बाह्य में लोग देखते हैं कि 'इन्होंने ऐसा किया, ऐसा किया,' परंतु अंतर में ज्ञानी कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, वह तो ज्ञानी स्वयं ही जानते हैं। बाहर से देखनेवाले मनुष्यों को ज्ञानी बाह्य में कुछ क्रियाएँ करते या विकल्पों में पड़ते दिखाई देते हैं, परंतु अंतर में तो वे कहीं चैतन्यलोक की गहराई में विचरते हैं। २८२.



द्रव्य तो अनंत शक्तियों का स्वामी है, महान है, प्रभु है। उसके

सामने साधक की पर्याय अपनी पामरता स्वीकार करती है। साधक को द्रव्य-पर्याय में प्रभुता और पामरता का ऐसा विवेक वर्तता है।

२८३.



साधक दशा तो अधूरी है। साधक को जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, और चैतन्य आनन्दधाम में पूर्णरूप से सदा के लिये विराजमान न हो जाय, तब तक पुरुषार्थ की धारा तो उग्र ही होती जाती है। केवलज्ञान होने पर एक समय का उपयोग होता है और वह एक समय की ज्ञानपर्याय तीन काल एवं तीन लोक को जान लेती है। २८४.



जिस समय ज्ञानी की परिणति बाहर दिखाई दे उसी समय उन्हें ज्ञायक भिन्न वर्तता है। जैसे किसी को पड़ौसी के साथ बड़ी मित्रता हो, उसके घर जाता-आता हो, परंतु वह पड़ौसी को अपना नहीं मान लेता, उसी प्रकार ज्ञानी को विभाव में कभी एकत्वपरिणमन नहीं होता। ज्ञानी सदा कमल की भाँति निर्लेप रहते हैं, विभाव से भिन्नरूप ऊपर-ऊपर तैरते हैं। २९२.



ज्ञानी को तो ऐसी ही भावना होती है कि इस समय पुरुषार्थ चले तो इसी समय मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लें। बाहर आना पड़े वह अपनी निर्बलता के कारण है। २९३.



ज्ञानी को 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी धारावाही परिणति अखण्डित रहती है। वे भक्ति - शास्त्रस्वाध्याय आदि बाह्य प्रसंगों में उल्लासपूर्वक भाग लेते दिखायी देते हैं तब भी उनकी ज्ञायकधारा तो अखण्डितरूप से अंतर में भिन्न ही कार्य करती रहती है। २९४.



यद्यपि दृष्टि-अपेक्षा से साधक को किसी पर्याय का या गुणभेद का स्वीकार नहीं है तथापि उसे स्वरूप में स्थिर हो जाने की भावना तो वर्तती है। रागांशरूप बहिर्मुखता उसे दुःखरूप से वेदन में आती है और वीतरागता - अंशरूप अंतर्मुखता सुखरूप से वेदन में आती है। जो आंशिक बहिर्मुख वृत्ति वर्तती हो उससे साधक न्यारा का न्यारा रहता है। आँख में किरकिरी नहीं समाती उसी प्रकार चैतन्यपरिणति में विभाव नहीं समाता। यदि साधक को बाह्य में - प्रशस्त-अप्रशस्त राग में - दुःख न लगे और अंतर में - वीतरागता में - सुख न लगे तो वह अंतर में क्यों जाये ? कहीं राग के विषय में 'राग आग दहै' ऐसा कहा हो, कहीं प्रशस्त राग को 'विषकुंभ' कहा हो, चाहे जिस भाषा में कहा हो, सर्वत्र भाव एक ही है कि - विभाव का अंश वह दुःखरूप है। भले ही उच्च में उच्च शुभभावरूप या अतिसूक्ष्म रागरूप प्रवृत्ति हो तदापि जितनी प्रवृत्ति उतनी आकुलता है और जितना निवृत्त होकर स्वरूप में लीन हुआ उतनी शांति एवं स्वरूपानंद है। २९५.



ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्माण्ड उलट जाये तब भी स्वयं नहीं पलटता; विभाव के चाहे जितने उदय आयें तथापि चलित नहीं होता। बाहर के प्रतिकूल संयोग से ज्ञायकपरिणति नहीं बदलती; श्रद्धा में फेर नहीं पड़ता। पश्चात् क्रमशः चारित्र्य बढ़ता जाता है। २९८.



ज्ञानी को संसार का कुछ नहीं चाहिये; वे संसार से भयभीत हैं। वे संसार से विमुख होकर मोक्ष के मार्ग पर चल रहे हैं। स्वभाव में सुभट हैं, अंतर से निर्भय हैं, किसीसे डरते नहीं हैं। किसी उपसर्ग का भय नहीं है। मुझ में किसी का प्रवेश नहीं है - ऐसे निर्भय हैं। विभाव को तो काले नाग की भाँति छोड़ दिया है। ३०२.

सम्यग्दृष्टि को अखण्ड तत्त्व का आश्रय है, अखण्ड पर से दृष्टि छूट जाये तो साधकपना ही न रहे। दृष्टि तो अंतर में है। चारित्र में अपूर्णता है। वह बाहर खड़ा दिखायी दे परंतु दृष्टि तो स्वमें ही है। ३०३.



मुनिराज वंदना-प्रतिक्रमणादि में लाचारी से युक्त होते हैं। केवलज्ञान नहीं होता इसलिये युक्त होना पड़ता है। भूमिकानुसार वह सब आता है परंतु स्वभाव से विरुद्ध होने के कारण उपाधिरूप लगता है। स्वभाव निष्क्रिय है उसमें से मुनिराज को बाहर आना नहीं सुहाता। जिसे जो कार्य न रुचे वह कार्य उसे भाररूप लगता है। ३१७.



ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड चैतन्य में भेद नहीं करती। साथ में रहनेवाला ज्ञान विवेक करता है कि 'यह चैतन्य के भाव हैं, यह पर है।' दृष्टि अखण्ड चैतन्य में भेद करने को खड़ी नहीं रहती। दृष्टि ऐसे परिणाम नहीं करती कि 'इतना तो सही, इतनी कचास तो है।' ज्ञान सभी प्रकार का विवेक करता है। ३२२.



जिसने शांति का स्वाद चख लिया हो उसे राग नहीं पुसाता। वह परिणति में विभाव से दूर भागता है। जैसे एक ओर बर्फका ढेर हो और दूसरी ओर अग्नि हो तो उन दोनों के बीच खड़ा हुआ मनुष्य अग्नि से दूर भागता हुआ बर्फ की ओर ढलता है, उसी प्रकार जिसने थोड़ा भी सुख का स्वाद चखा है, जिसे थोड़ी भी शांति का वेदन वर्त रहा है ऐसा ज्ञानी जीव दाह से अर्थात् राग से दूर भागता है एवं शीतलता की ओर ढलता है। ३२३.



ज्ञानी को स्वानुभूति के समय या उपयोग बाहर आये तब दृष्टि तो सदा अंतःस्तल पर ही लगी रहती है। बाह्य में एकमेक हुआ

दिखायी दे तब भी वह तो (दृष्टि-अपेक्षा से) गहरी अंतर्गुफामें से बाहर निकलता ही नहीं। ३२५.



जिसने तल को स्पर्श किया उसे बाहर सब थोथा लगता है। चैतन्य के तल में पहुँच गया वह चैतन्य की विभूति में पहुँच गया। ३२६.



मुनिदशा का क्या कहना ! मुनि तो प्रमत्त - अप्रमत्तपने में सदा झूलनेवाले हैं। उन्हें तो सर्वगुणसंपन्न कहा जा सकता है। ३२८.



मुनिराज बारंबार निर्विकल्परूप से चैतन्यनगर में प्रवेश करके अद्भुत ऋद्धि का अनुभव करते हैं। उस दशा में, अनंत गुणों से भरपूर चैतन्यदेव भिन्न-भिन्न प्रकार की चमत्कारिक पर्यायोरूप तरंगों में एवं आश्चर्यकारी आनंदतरंगों में डोलता है। मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि जीव का यह स्वसंवेदन कोई और ही है, वचनातीत है। वहाँ शून्यता नहीं है, जागृतरूप से अलौकिक ऋद्धि का अत्यंत स्पष्ट वेदन है। तू वहाँ जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। ३२९.



अहो ! मुनिराज तो निजात्मधाम में निवास करते हैं। उसमें विशेष-विशेष एकाग्र होते-होते वे वीतरागता को प्राप्त करते हैं।

वीतरागता होनेसे उन्हें ज्ञान की अगाध अद्भुत शक्ति प्रगट होती है। ज्ञान का अंतर्मुहूर्त का स्थूल उपयोग छूटकर एक समय का सूक्ष्म उपयोग हो जाता है। वह ज्ञान अपने क्षेत्र में रहकर सर्वत्र पहुँच जाता है - लोकालोक को जान लेता है, भूत-वर्तमान-भविष्य की सर्व पर्यायों को क्रम पड़े बिना एक समय में वर्तमानवत् जानता है, स्वपदार्थ तथा अनंत परपदार्थों की तीनों काल की पर्यायों के अनंत-अनंत अविभाग प्रतिच्छेदों को एक समय में प्रत्यक्ष जानता है -

ऐसे अचिंत्य महिमावंत केवलज्ञान को वीतराग मुनिराज प्राप्त करते हैं। ३३०.



द्रव्य को ग्रहण करने से शुद्धता प्रगट हो, चारित्रदशा प्रगट हो, परंतु ज्ञानी उन पर्यायों में नहीं रुकते। आत्मद्रव्य में बहुत पड़ा है, बहुत भरा है, उस आत्मद्रव्य के ऊपर से ज्ञानी की दृष्टि नहीं हटती। यदि पर्याय में रुकें, पर्याय में चिपक जाएँ, तो मिथ्यात्व में आ जायँ। ३३७.



अंतर में तू अपने आत्मा के साथ प्रयोजन रख और बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु के साथ; बस, अन्य के साथ तुझे क्या प्रयोजन है? जो व्यवहार से साधनरूप कहे जाते हैं, जिनका आलंबन साधक को आये बिना नहीं रहता - ऐसे देव-शास्त्र-गुरु के आलंबनरूप शुभ भाव भी परमार्थ से हेय हैं, तो फिर अन्य पदार्थ या अशुभ भावों की तो बात ही क्या? उनसे तुझे क्या प्रयोजन है? आत्मा की मुख्यतापूर्वक देव-शास्त्र-गुरु का आलंबन साधक को आता है। मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी कहा है कि 'हे जिनेन्द्र! मैं किसी भी स्थान पर होऊँ, (परंतु) पुनः पुनः आपके पादपंकज की भक्ति हो!' - ऐसे भाव साधक को आते हैं, और साथ ही साथ आत्मा की मुख्यता तो सतत बनी ही रहती है। ३४२.



जब तक सामान्य तत्त्व - ध्रुव तत्त्व - खयाल में न आये, तब तक अंतर में मार्ग कहाँ से सूझे और कहाँ से प्रगट हो? इसलिये सामान्य तत्त्व को खयाल में लेकर उसका आश्रय करना चाहिये। साधक को आश्रय तो प्रारंभ से पूर्णता तक एक ज्ञायक का ही - द्रव्यसामान्य का ही - ध्रुव तत्त्व का ही होता है। ज्ञायक का - 'ध्रुव' का जोर एक क्षण भी नहीं हटता। दृष्टि ज्ञायक के सिवा

किसीको स्वीकार नहीं करती - ध्रुव के सिवा किसी पर ध्यान नहीं देती; अशुद्ध पर्याय पर नहीं, शुद्ध पर्याय पर नहीं, गुण भेद पर नहीं। यद्यपि साथ वर्तता हुआ ज्ञान सबका विवेक करता है, तथापि दृष्टि का विषय तो सदा एक ध्रुव ज्ञायक ही है, वह कभी छूटता नहीं है। ३४४.



'द्रव्य से परिपूर्ण महाप्रभु हूँ, भगवान हूँ, कृतकृत्य हूँ, ऐसा मानते होने पर भी 'पर्याय में तो मैं पामर हूँ, ऐसा महामुनि भी जानते हैं।

गणधरदेव भी कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्र! मैं आपके ज्ञान को नहीं पा सकता। आपके एक समय के ज्ञान में समस्त लोकालोक तथा अपनी भी अनंत पर्यायें ज्ञात होती हैं। कहाँ आपका अनंत-अनंत द्रव्य-पर्यायों को जाननेवाला अगाध ज्ञान और कहाँ मेरा अल्प ज्ञान! आप अनुपम आनंदरूप भी संपूर्णतया परिणमित हो गये हैं। कहाँ आपका पूर्ण आनंद और कहाँ मेरा अल्प आनंद! इसी प्रकार अनंत गुणों की पूर्ण पर्यायरूप से आप संपूर्णतया परिणमित हो गये हो। आपकी क्या महिमा करें? आपको तो जैसा द्रव्य वैसी ही एक समय की पर्याय परिणमित हो गई है; मेरी पर्याय तो अनंतवें भाग है।'

इस प्रकार प्रत्येक साधक, द्रव्य-अपेक्षा से अपने को भगवान मानता होने पर भी, पर्याय-अपेक्षा से - ज्ञान, आनंद, चारित्र, वीर्य इत्यादि सर्व पर्यायों की अपेक्षा से - अपनी पामरता जानता है। ३५२.



तरने का उपाय बाहरी चमत्कारों में नहीं रहा है। बाह्य चमत्कार साधक का लक्षण भी नहीं हैं। चैतन्य-चमत्कारस्वरूप स्वसंवेदन ही साधक का लक्षण है। जो अंतर की गहराई में राग के एक कण को भी लाभरूप मानता है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं होते। निस्पृह

ऐसा हो जा कि मुझे अपना अस्तित्व ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये। एक आत्मा की ही लगन लगे और अंतरमें से उत्थान हो तो परिणति पलटे बिना न रहे। ३५५.



मुनिराज का निवास चैतन्यदेश में है। उपयोग तीक्ष्ण होकर गहरे-गहरे चैतन्य की गुफा में चला जाता है। बाहर आने पर मुरदे जैसी दशा होती है। शरीर के प्रति राग छूट गया है। शांति का सागर उमड़ा है। चैतन्य की पर्याय की विविध तरंगें उछल रही हैं। ज्ञान में कुशल हैं, दर्शन में प्रबल हैं, समाधि के वेदक हैं। अंतर में तृप्त-तृप्त हैं। मुनिराज मानों वीतरागता की मूर्ति हों इस प्रकार परिणमित हो गये हैं। देह में वीतराग दशा छा गई है। जिन नहीं परंतु जिनसरीखे हैं। ३५६.



सम्यग्दृष्टि को पुरुषार्थ से रहित कोई काल नहीं है। पुरुषार्थ करके भेदज्ञान प्रगट किया तब से पुरुषार्थ की धारा चलती ही है। सम्यग्दृष्टि का यह पुरुषार्थ सहज है, हठ पूर्वक नहीं है। दृष्टि प्रगट होनेके बाद वह एक ओर पड़ी हो ऐसा नहीं है। जैसे अग्नि ढँकी पड़ी हो ऐसा नहीं है। अंतर में भेदज्ञान का - ज्ञातृत्वधारा का प्रगट वेदन है। सहज ज्ञातृत्वधारा चल रही है वह पुरुषार्थ से चल रही है। परम तत्त्व में अविचलता है। प्रतिकूलता के समूह आये, सारे ब्रह्माण्ड में खलबली मच जाय, तथापि चैतन्यपरिणति न डोले - ऐसी सहज दशा है। ३६०.



जिस प्रकार अज्ञानी को 'शरीर ही मैं हूँ, यह शरीर मेरा है' ऐसा सहज ही रहा करता है, घोखना नहीं पड़ता, याद नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार ज्ञानी को 'ज्ञायक ही मैं हूँ, अन्य कुछ मेरा नहीं है' ऐसी सहज परिणति वर्तती रहती है, घोखना नहीं पड़ता,

याद नहीं करना पड़ता। सहज पुरुषार्थ वर्तता रहता है। ३६२.



मुनिराज आश्चर्यकारी निज ऋद्धि से भरे हुए चैतन्य महल में निवास करते हैं; चैतन्यलोक में अनंत प्रकार का दर्शनीय है उसका अवलोकन करते हैं; अतीन्द्रिय आनंदरूपस्वादिष्ट अमृतभोजन के थाल भरे हैं वह भोजन करते हैं। समयसमय अचिंत्य दशा है ! ३६३.



जिसने आत्मा को पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको आत्मा ही सदा समीप वर्तता है, प्रत्येक पर्याय में शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है। विविध शुभ भाव आये तब कहीं शुद्धात्मा विस्मृत नहीं हो जाता और वे भाव मुख्यता नहीं पाते।

मुनिराज को पंचाचार, व्रत, नियम, जिनभक्ति, इत्यादि सर्व शुभभावों के समय भेदज्ञान की धारा, स्वरूप की शुद्ध चारित्रदशा निरंतर चलती ही रहती है। शुभ भाव नीचे ही रहते हैं, आत्मा ऊँचा का ऊँचा ही - ऊर्ध्व ही - रहता है। सब कुछ पीछे रह जाता है, आगे एक शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है। ३६६.



जिसे आत्मा का करना हो उसे आत्मा का ध्येय ही सन्मुख रखने योग्य है। 'कार्यो' की गिनती करने की अपेक्षा एक आत्मा का ध्येय ही मुख्य रखना वह उत्तम है। प्रवृत्तिरूप 'कार्य' तो भूमिका के योग्य होते हैं।

आत्मा को मुख्य रखकर जो क्रिया हो उसे ज्ञानी देखते रहते हैं। उनके सर्व कार्यो में 'आत्मा समीप जिसे रहे' ऐसा होता है। ध्येय को वे भूलते नहीं हैं। ३७०.



पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे पूर्ण आत्मद्रव्य पर दृष्टि करने से, उसीके आलंबनसे, पूर्णता प्रगट होती है। इस अखण्ड द्रव्य का आलंबन वही

अखण्ड एक परमपारिणामिकभाव का आलंबन है। ज्ञानी को उस आलंबन से प्रगट होनेवाली औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिकभावरूप पर्यायों का - व्यक्त होनेवाली विभूतियों का - वेदन होता है परंतु उनका आलंबन नहीं होता - उन पर जोर नहीं होता। जोर तो सदा अखण्ड शुद्ध द्रव्य पर ही होता है। क्षायिकभाव का भी आश्रय या आलंबन नहीं लिया जाता क्योंकि वह तो पर्याय है, विशेष भाव है। सामान्य के आश्रय से ही शुद्ध विशेष प्रगट होता है, ध्रुव के आलंबन से ही निर्मल उत्पाद होता है। इसलिये सब छोड़कर, एक शुद्धात्मद्रव्य के प्रति - अखण्ड परमपारिणामिकभाव के प्रति - दृष्टि कर, उसी के ऊपर निरंतर जोर रख, उसीकी ओर उपयोग ढले ऐसा कर। ३७६.



स्वभावमें से विशेष आनंद प्रगट करने के लिये मुनिराज जंगल में बसे हैं। उस हेतु उनको निरंतर परमपारिणामिकभाव में लीनता वर्तती है, - दिन-रात रोमरोम में एक आत्मा ही रम रहा है। शरीर है किन्तु शरीर की कोई चिंता नहीं है, देहातीत जैसी दशा है। उत्सर्ग एवं अपवाद की मैत्रीपूर्वक रहनेवाले हैं। आत्मा का पोषण करके निज स्वभावभावों को पुष्ट करते हुए विभावभावों का शोषण करते हैं। जिस प्रकार माता का पल्ला पकड़कर चलता हुआ बालक कुछ अड़चन दिखने पर अधिक जोर से पल्ला पकड़ लेता है, उसी प्रकार मुनि परीषह-उपसर्ग आने पर प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मद्रव्य को पकड़ लेते हैं। 'ऐसी पवित्र मुनिदशा कब प्राप्त करेंगे !' ऐसा मनोरथ सम्यग्दृष्टि को वर्तता है। ३७७.



जिसे स्वभाव की महिमा जागी है ऐसे सच्चे आत्मार्थी को विषय-कषायों की महिमा टूटकर उनकी तुच्छता लगती है। उसे चैतन्यस्वभाव की समझ में निमित्तभूत देव-शास्त्र-गुरु की महिमा आती है। कोई

भी कार्य करते हुए उसे निरंतर शुद्ध स्वभाव प्राप्त करने का खटका लगा ही रहता है।

गृहस्थाश्रम में स्थित ज्ञानी को शुभाशुभ भाव से भिन्न ज्ञायक का अवलंबन करनेवाली ज्ञातृत्वधारा निरंतर वर्तती रहती है। परंतु पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण अस्थिरतारूप विभावपरिणति बनी हुई है इसलिये उनको गृहस्थाश्रम संबंधी शुभाशुभ परिणाम होते हैं। स्वरूप में स्थिर नहीं रहा जाता इसलिये वे विविध शुभभावों में युक्त होते हैं :- 'मुझे देव-गुरु की सदा समीपता हो, गुरु के चरणकमल की सेवा हो' इत्यादि प्रकार से जिनेन्द्रभक्ति - स्तवन - पूजन एवं गुरुसेवा के भाव होते हैं तथा शास्त्रस्वाध्याय के, ध्यान के, दान के, भूमिकानुसार अणुव्रत एवं तपादि के शुभभाव उनके हठ बिना आते हैं। इन सब भावों के बीच ज्ञातृत्वपरिणति की धारा तो सतत चलती ही रहती है।

निजस्वरूपधाम में रमनेवाले मुनिराज को भी पूर्ण वीतरागदशा का अभाव होने से विविध शुभभाव होते हैं :- उनके महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण, पंचाचार, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि संबंधी शुभभाव आते हैं तथा जिनेन्द्रभक्ति - श्रुतभक्ति के उल्लासमय भाव भी आते हैं। 'हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन होनेसे, आपके चरणकमल की प्राप्ति होनेसे, मुझे क्या नहीं प्राप्त हुआ ? अर्थात् आप मिलने से मुझे सब कुछ मिल गया।' ऐसे अनेक प्रकार से श्री पद्मनंदी आदि मुनिवरों ने जिनेन्द्रभक्ति के स्रोत बहाये हैं। - ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के शुभभाव मुनिराज को भी हठ बिना आते हैं। साथ ही साथ ज्ञायक के उग्र आलंबन से मुनि योग्य उग्र ज्ञातृत्वधारा भी सतत चलती ही रहती है।

साधक को - मुनि को तथा सम्यग्दृष्टि श्रावक को - जो शुभभाव आते हैं वे ज्ञातृत्वपरिणति से विरुद्धस्वभाववाले होनेके कारण उनका आकुलतारूप से - दुःखरूप से वेदन होता है, हेयरूप ज्ञात होते

हैं, तथापि उस भूमिका में आये बिना नहीं रहते।

साधक की दशा एकसाथ त्रिपटी (- तीन विशेषताओंवाली) है :- एक तो, उसे ज्ञायक का आश्रय अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य के प्रति जोर निरंतर वर्तता है। जिसमें अशुद्ध तथा शुद्ध पर्यायांश की भी उपेक्षा होती है; दूसरा, शुद्ध पर्यायांश को सुखरूप से वेदन होता है; और तीसरा, अशुद्ध पर्यायांश - जिसमें व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभावों का समावेश है उसका - दुःखरूप से, उपाधिरूप से वेदन होता है।

साधक को शुभभाव उपाधिरूप लगते हैं - इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि वे भाव हठपूर्वक होते हैं। यों तो साधक के वे भाव हठरहित सहजदशा के हैं, अज्ञानी की भाँति 'ये भाव नहीं करूँगा तो परभव में दुःख सहन करने पड़ेंगे' ऐसे भय से जबरन् कष्टपूर्वक नहीं किये जाते; तथापि वे सुखरूप भी ज्ञान नहीं होते। शुभभावों के साथ-साथ वर्तती, ज्ञायक का अवलंबन लेनेवाली जो यथोचित निर्मल परिणति वही साधक को सुखरूप ज्ञात होती है।

जिस प्रकार हाथी के बाहर के दाँत - दिखाने के दाँत अलग होते हैं और भीतर के दाँत - चबाने के दाँत अलग होते हैं, उसी प्रकार साधक को बाह्य में उत्साह के कार्य - शुभ परिणाम दिखायी दें वे अलग होते हैं और अंतर में आत्मशांति का - आत्मतृप्ति का स्वाभाविक परिणमन अलग होता है। बाह्य क्रिया के आधार से साधक का अंतर नहीं पहिचाना जाता। ३७८.



मुनिराज को शुद्धात्मतत्त्व के उग्र अवलंबन द्वारा आत्मा में संयम प्रगट हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड पलट जाये तथापि मुनिराज की यह दृढ़ संयमपरिणति नहीं पलट सकती। बाहर से देखने पर तो मुनिराज आत्मसाधना के हेतु वन में अकेले बसते हैं, परंतु अंतर में देखें तो अनंत गुण से भरपूर स्वरूपनगर में उनका निवास है। बाहर से

देखने पर भले ही वे क्षुधावंत हों, तृषावंत हों, उपवासी हों, परंतु अंतर में देखा जाये तो वे आत्मा के मधुर रस का आस्वादन कर रहे हैं। बाहर से देखने पर भले ही उनके चारों ओर घनघोर अंधेरा व्याप्त हो, परंतु अंतर में देखो तो मुनिराज के आत्मा में आत्मज्ञान का उजाला फैल रहा है। बाहर से देखने पर भले ही मुनिराज सूर्य के प्रखर ताप में ध्यान करते हों, परंतु अंतर में वे संयमरूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया में विराजमान हैं। उपसर्ग का प्रसंग आये तब मुनिराज को ऐसा लगता है कि - 'अपनी स्वरूपस्थिरता के प्रयोग का मुझे अवसर मिला है इसलिये उपसर्ग मेरा मित्र है।' अंतरंग मुनिदशा अद्भुत है; वहाँ देह में भी उपशमरस के ढाले ढल गये होते हैं। ३८८.



जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है उसे दृष्टि के जोर में अकेला ज्ञायक ही - चैतन्य ही भासता है, शरीरादि कुछ भासित नहीं होता। भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासता है। दिन को जागृत दशा में तो ज्ञायक निराला रहता है परंतु रात को नींद में भी आत्मा निराला ही रहता है। निराला तो है ही परंतु प्रगट निराला हो जाता है।

उसको भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होता है परंतु चाहे जिस संयोग में उसकी ज्ञान-वैराग्य शक्ति कोई और ही रहती है। मैं तो ज्ञायक सो ज्ञायक ही हूँ, निःशंक ज्ञायक हूँ; विभाव और मैं कभी एक नहीं हुए; ज्ञायक पृथक् ही है, सारा ब्रह्माण्ड पलट जाय तथापि पृथक् ही है। - ऐसा अचल निर्णय होता है। स्वरूप अनुभव में अत्यंत निःशंकता वर्तती है। ज्ञायक ऊपर चढ़कर - ऊर्ध्वरूप से बिराजता है, दूसरा सब नीचे रह जाता है। ३८९.



मुनिराज समाधिपरिणत हैं। वे ज्ञायक का अवलंबन लेकर विशेष-

विशेष समाधिसुख प्रगट करने को उत्सुक हैं। मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मुनि 'सकलविमल केवलज्ञानदर्शन के लोलुप' हैं। 'स्वरूप में कब ऐसी स्थिरता होगी जब श्रेणी लगकर वीतरागदशा प्रगट होगी ? कब ऐसा अवसर आयेगा जब स्वरूप में उग्र रमणता होगी और आत्मा का परिपूर्ण स्वभावज्ञान - केवलज्ञान प्रगट होगा ? कब ऐसा परम ध्यान जमेगा कि आत्मा शाश्वतरूप से आत्मस्वभाव में ही रह जायगा ?' ऐसी भावना मुनिराज को वर्तती है। आत्मा के आश्रय से एकाग्रता करते-करते वे केवलज्ञान के समीप जा रहे हैं। प्रचुर शांति का वेदन होता है। कषाय बहुत मंद हो गये हैं। कदाचित् कुछ ऋद्धियाँ - चमत्कार भी प्रगट होते जाते हैं; परंतु उनका उनके प्रति दुर्लक्ष है। 'हमें ये चमत्कार नहीं चाहिये। हमें तो पूर्ण चैतन्यचमत्कार चाहिये। उसके साधनरूप, ऐसा ध्यान - ऐसी निर्विकल्पता - ऐसी समाधि चाहिये कि जिसके परिणाम से असंख्य प्रदेशों में प्रत्येक गुण उसकी परिपूर्ण पर्याय से प्रगट हो, चैतन्य का पूर्ण विलास प्रगट हो।' इस भावना को मुनिराज आत्मा में अत्यंत लीनता द्वारा सफल करते हैं। ३९०.



अज्ञानी ने अनादि काल से अनंत ज्ञान - आनंदादि समृद्धि से भरे हुए निज चैतन्यमहल को ताले लगा दिये हैं और स्वयं बाहर भटकता रहता है। ज्ञान बाहर से ढूँढता है, आनंद बाहर से ढूँढता है, सब कुछ बाहर से ढूँढता है। स्वयं भगवान होने पर भी भीख माँगता रहता है।

ज्ञानी ने चैतन्यमहल के ताले खोल दिये हैं। अंतर में ज्ञान-आनंदादि की अखूट समृद्धि देखकर, और थोड़ी भोगकर, पहले कभी जिसका अनुभव नहीं हुआ था ऐसी विश्रान्ति उसे हो गई है। ३९१.



जिसे भवभ्रमण से सचमुच छूटना हो उसे अपने को परद्रव्य से

भिन्न पदार्थ निश्चित करके, अपने ध्रुव ज्ञायकस्वभाव की महिमा लाकर, सम्यग्दर्शन प्रगट करने का प्रयास करना चाहिये। यदि ध्रुव ज्ञायकभूमि का आश्रय न हो तो जीव साधना का बल किसके आश्रय से प्रगट करेगा ? ज्ञायक की ध्रुव भूमि में दृष्टि जमने पर, उसमें एकाग्रतारूप प्रयत्न करते-करते, निर्मलता प्रगट होती जाती है।

साधक जीव की दृष्टि निरंतर शुद्धात्मद्रव्य पर होती है, तथापि साधक जानता है सबको; - वह शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों को जानता है और उन्हें जानते हुए उनके स्वभाव-विभावपने का, उनके सुख-दुःखरूप वेदन का, उनके साधक-बाधकपने का इत्यादि का विवेक वर्तता है। साधकदशा में साधक के योग्य अनेक परिणाम वर्तते रहते हैं परंतु 'में परिपूर्ण हूँ' ऐसा बल सतत साथ ही साथ रहता है। पुरुषार्थरूप क्रिया अपनी पर्याय में होती है और साधक उसे जानता है, तथापि दृष्टि के विषयभूत ऐसा जो निष्क्रिय द्रव्य वह अधिक का अधिक रहता है। - ऐसी साधकपरिणति की अटपटी रीति को ज्ञानी बराबर समझते हैं, दूसरों को समझना कठिन होता है। ३९३.



मुनिराज के हृदय में एक आत्मा ही बिराजता है। उनका सर्व प्रवर्तन आत्मामय ही है। आत्मा के आश्रय से बड़ी निर्भयता प्रगट हुई है। घोर जंगल हो, घनी झाड़ी हो, सिंह - व्याघ्र दहाड़ते हों, मेघाच्छन्न डरावनी रात हो, चारों ओर अंधकार व्याप्त हो, वहाँ गिरिगुफा में मुनिराज बस अकेले चैतन्य में ही मस्त होकर निवास करते हैं। आत्मामें से बाहर आये तो श्रुतादि के चिंतवन में चित्त लगता है और फिर अंतर में चले जाते हैं। स्वरूप के झूले में झूलते हैं। मुनिराज को एक आत्मलीनता का ही काम है। अद्भुत दशा है !

३९४.



सम्यग्दृष्टि को भले स्वानुभूति स्वयं पूर्ण नहीं है परंतु दृष्टि में

परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है। ज्ञानपरिणति द्रव्य तथा पर्याय को जानती है परंतु पर्याय पर जोर नहीं है। दृष्टि में अकेला स्व की ओर का - द्रव्य की ओर का बल रहता है। ३९९.



ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर ढल रहा है। ज्ञानी निज स्वरूप में परिपूर्णरूप से स्थिर हो जानेको तरसता है। 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे ? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। यहाँ हमारा कोई नहीं है। जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनंद, वीर्यादि अनंतगुणरूप हमारा परिवार बसता है वह हमारा स्वदेश है। अब हम उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। हमें त्वरा से अपने मूल वतन में जाकर आराम से बसना है जहाँ सब हमारे हैं।' ४०१.



जो केवलज्ञान प्राप्त कराये ऐसा अंतिम पराकाष्ठा का ध्यान वह उत्तम प्रतिक्रमण है। इन महा मुनिराज ने ऐसा प्रतिक्रमण किया कि दोष पुनः कभी उत्पन्न ही नहीं हुए; ठेठ श्रेणी लगा दी कि जिसके परिणाम से वीतरागता होकर केवलज्ञान का सारा समुद्र उछल पड़ा ! अंतर्मुखता तो अनेक बार हुई थी, परंतु यह अंतरर्मुखता तो अंतिम कोटि की ! आत्मा के साथ पर्याय ऐसी जुड़ गई कि उपयोग अंदर गया सो गया, फिर कभी बाहर आया ही नहीं। चैतन्यपदार्थ को जैसा ज्ञान में जाना था, वैसा ही उसको पर्याय में प्रसिद्ध कर लिया। ४०२.



जैसे पूर्णमासी के पूर्ण चंद्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है, उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचंद्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है; - वैराग्य का ज्वार आता है, आनंद का ज्वार आता है, सर्व गुण-पर्याय का यथासंभव ज्वार आता है।

यह ज्वार बाहर से नहीं, भीतर से आता है। पूर्ण चैतन्यचंद्र को स्थिरतापूर्वक निहारने पर अंदर से चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है - सब कुछ उछलता है। धन्य मुनिदशा ! ४०३.



अज्ञानी जीव ऐसे भाव से वैराग्य करता है कि - 'यह सब क्षणिक है, सांसारिक उपाधि दुःखरूप है,' परंतु उसे 'मेरा आत्मा ही आनंदस्वरूप है' ऐसे अनुभवपूर्वक सहज वैराग्य नहीं होनेके कारण सहज शांति परिणमित नहीं होती। वह घोर तप करता है, परंतु कषाय के साथ एकत्वबुद्धि नहीं टूटी होनेसे आत्मप्रतपन प्रगट नहीं होता। ४०५.



यहाँ (श्री प्रवचनसार प्रारंभ करते हुए) कुंदकुंदाचार्यभगवान को पंच परमेष्ठी के प्रति कैसी भक्ति उल्लसित हुई है ! पाँचों परमेष्ठीभगवंतों का स्मरण करके भक्तिभावपूर्वक कैसा नमस्कार किया है ! तीन काल के तीर्थकरभगवंतों को - साथ ही साथ मनुष्यक्षेत्र में वर्तते विद्यमान तीर्थकरभगवंतों को अलग स्मरण करके - 'सब को एकसाथ तथा प्रत्येक-प्रत्येक को मैं वंदन करता हूँ' ऐसा कहकर अति भक्तिभीने चित्त से आचार्यभगवान नम गये हैं। ऐसे भक्ति के भाव मुनि को - साधक को - आये बिना नहीं रहते। चित्त में भगवान के प्रति भक्तिभाव उछले तब, मुनि आदि साधक को भगवान का नाम आने पर भी रोम-रोम उल्लसित हो जाता है। ऐसे भक्ति आदि के शुभ भाव आयें तब भी मुनिराज को ध्रुव ज्ञायकतत्त्व ही मुख्य रहता है इसलिये शुद्धात्माश्रित उग्र समाधिरूप परिणमन वर्तता ही रहता है और शुभ भाव तो ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं तथा स्वभाव से विपरीतरूप वेदन में आते हैं। ४०७.



जिस प्रकार वटवृक्ष की जटा पकड़कर लटकता हुआ मनुष्य मधुबिंदु

की तीव्र लालसा में पड़कर, विद्याधर की सहायता की उपेक्षा करके विमान में नहीं बैठा, उसी प्रकार अज्ञानी जीव विषयों के कल्पित सुख की तीव्र लालसा में पड़कर गुरु के उपदेश की उपेक्षा करके शुद्धात्मरुचि नहीं करता, अथवा 'इतना काम कर लूँ, इतना काम कर लूँ' इस प्रकार प्रवृत्ति के रस में लीन रहकर शुद्धात्मप्रतीति के उद्यम का समय नहीं पाता, इतने में तो मृत्यु का समय आ पहुँचता है। फिर 'मैंने कुछ किया नहीं, अरेरे ! मनुष्यभव व्यर्थ गया' इस प्रकार वह पछताये तथापि किस काम का ? मृत्यु के समय उसे किसकी शरण है ? वह रोग की, वेदना की, मृत्यु की, एकत्वबुद्धि की और आर्तध्यान की चपेट में आकर देह छोड़ता है। मनुष्यभव हारकर चला जाता है।

धर्मी जीव रोग की, वेदना की या मृत्यु की चपेट में नहीं आता, क्योंकि उसने शुद्धात्मा की शरण प्राप्त की है। विपत्ति के समय वह आत्मामें से शांति प्राप्त कर लेता है। विकट प्रसंग में वह निज शुद्धात्मा की शरण विशेष लेता है। मरणादि के समय धर्मी जीव शाश्वत ऐसे निजसुखसरोवर में विशेष-विशेष डुबकी लगा जाता है - जहाँ रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है, शांति की अखूत निधि है। वह शांतिपूर्वक देह छोड़ता है, उसका जीवन सफल है।

तू मरण का समय आनेसे पहले चेत जा, सावधान हो, सदा शरणभूत - विपत्ति के समय विशेष शरणभूत होनेवाले - ऐसे शुद्धात्मद्रव्य को अनुभवने का उद्यम कर। ४०९.



जिसने आत्मा के मूल अस्तित्व को नहीं पकड़ा, 'स्वयं शाश्वत तत्त्व है, अनंत सुख से भरपूर है' ऐसा अनुभव करके शुद्ध परिणति की धारा प्रगट नहीं की, उसने भले सांसारिक इन्द्रिय सुखों को नाशवंत और भविष्य में दुःखदाता जानकर छोड़ दिया हो और बाह्य मुनिपना ग्रहण किया हो, भले ही वह दुर्धर तप करता हो और उपसर्ग-

परीषह में अड़िग रहता हो, तथापि उसे वह सब निर्वाण का कारण नहीं होता, स्वर्ग का कारण होता है; क्योंकि उसे शुद्ध परिणमन बिलकुल नहीं वर्तता, मात्र शुभ परिणाम ही - और वह भी उपादेयबुद्धि से - वर्तता है। वह भले नौ पूर्व पढ़ गया हो तथापि उसने आत्मा का मूल द्रव्यसामान्य स्वरूप अनुभवपूर्वक नहीं जाना होनेसे वह सब अज्ञान है।

सच्चे भावमुनि को तो शुद्धात्मद्रव्याश्रित मुनियोग्य उग्र शुद्धपरिणति चलती रहती है, कर्तापना तो सम्यग्दर्शन होने पर ही छूट गया होता है, उग्र ज्ञातृत्वधार अटूट वर्तती रहती है, परम समाधि परिणमित होती है। वे शीघ्र-शीघ्र निजात्मा में लीन होकर आनंद का वेदन करते रहते हैं; उनके प्रचुर स्वसंवेदन होता है। वह दशा अद्भुत है, जगत से न्यारी है। पूर्ण वीतरागता न होनेसे उनके व्रत-तप-शास्त्ररचना आदि के शुभ भाव आते हैं अवश्य, परंतु वे हेयबुद्धि से आते हैं। ऐसी पवित्र मुनिदशा मुक्ति का कारण है। ४१०.



मुनिराज कहते हैं :- हमारा आत्मा तो अनंत गुणों से भरपूर, अनंत अमृतरस से भरपूर, अक्षय घट है। उस घटमें से पतली धार से अल्प अमृत पिया जाय ऐसे स्वसंवेदन से हमें संतोष नहीं होता। हमें तो प्रति समय पूर्ण अमृत का पान हो ऐसी पूर्ण दशा चाहिये। उस पूर्ण दशा में सादि - अनंत काल पर्यंत प्रति समय पूरा अमृत पिया जाता है और घट भी सदा परिपूर्ण भरा रहता है। चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवान शाश्वत द्रव्य और प्रति समय ऐसी ही पूर्ण व्यक्तिवाला परिणमन ! ऐसी उत्कृष्ट - निर्मल दशा की हम भावना भाते हैं। (ऐसी भावना के समय भी मुनिराज की दृष्टि तो सदा शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही है।) ४१५.



सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् आत्मस्थिरता बढ़ते-बढ़ते, बारंबार स्वरूप

लीनता होती रहे ऐसी दशा हो तब मुनिपना आता है। मुनि को स्वरूप की ओर ढलती हुई शुद्धि इतनी बढ़ गई होती है कि वे घड़ी-घड़ी आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं। पूर्ण वीतरागता के अभाव के कारण जब बाहर आते हैं तब विकल्प तो उठते हैं परंतु वे गृहस्थदशा के योग्य नहीं होते, मात्र स्वाध्याय-ध्यान-व्रत-संयम-तप-भक्ति इत्यादिसंबंधी मुनियोग्य शुभ विकल्प ही होते हैं और वे भी हठ रहित होते हैं। मुनिराज को बाहर का कुछ नहीं चाहिये। बाह्य में एक शरीरमात्र का संबंध है, उसके प्रति भी परम उपेक्षा है। बड़ी निःस्पृह दशा है। आत्मा की ही लगन लगी है। चैतन्यनगर में ही निवास है। 'मैं और मेरे आत्मा के अनंत गुण ही मेरे चैतन्यनगर की बस्ती है। उसीका मुझे काम है। दूसरों का मुझे क्या काम ?' इस प्रकार एक आत्मा की ही धुन है। विश्व की कथा से उदास हैं। बस, एक आत्मामय ही जीवन हो गया है; - मानों चलते-फिरते सिद्ध ! जैसे पिता की झलक पुत्र में दिखायी देती है उसी प्रकार जिनभगवान की झलक मुनिराज में दिखती है। मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में रहें उतने काल कहीं (आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना) वहीं के वहीं खड़े नहीं रहते, आगे बढ़ते जाते हैं; केवलज्ञान न हो तब तक शुद्धि बढ़ाते ही जाते हैं। - यह, मुनि की अंतःसाधना है। जगत के जीव मुनि की अंतरंग साधना नहीं देखते। साधना कहीं बाहर से देखने की वस्तु नहीं है, अंतर की दशा है। मुनिदशा आश्चर्यकारी है, वंद्य है। ४१७.



प्रश्न :- सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व कहा है, तो क्या निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के सर्व गुणों का आंशिक शुद्ध परिणमन वेदन में आता है ?

उत्तर :- निर्विकल्प स्वानुभूति की दशा में आनंदगुण की आश्चर्यकारी पर्याय प्रगट होने पर आत्मा के सर्व गुणों का (यथासंभव) आंशिक

शुद्ध परिणमन प्रगट होता है और सर्व गुणों की पर्यायों का वेदन होता है।

आत्मा अखण्ड है, सर्व गुण आत्मा के ही हैं, इसलिये एक गुण की पर्याय का वेदन हो उसके साथ-साथ सर्व गुणों की पर्यायें अवश्य वेदन में आती हैं। भले ही सर्व गुणों के नाम न आते हों, और सर्व गुणों की संज्ञा भाषा में होती भी नहीं, तथापि उनका संवेदन तो होता ही है।

स्वानुभूति के काल में अनंतगुणसागर आत्मा अपने आनंदादि गुणों की चमत्कारिक स्वाभाविक पर्यायों में रमण करता हुआ प्रगट होता है। वह निर्विकल्प दशा अद्भुत है, वचनातीत है। वह दशा प्रगट होने पर सारा जीवन पलट जाता है। ४२३.



प्रश्न :- निर्विकल्प दशा होने पर वेदन किसका होता है ? द्रव्य का या पर्याय का ?

उत्तर :- दृष्टि तो ध्रुवस्वभाव की ही होती है; वेदन होता है आनंदादि पर्यायों का।

द्रव्य तो स्वभाव से अनादि-अनंत है जो पलटता नहीं है, बदलता नहीं है। उस पर दृष्टि करने से, उसका ध्यान करने से, अपनी विभूति का प्रगट अनुभव होता है। ४३०.



['श्रीमद् राजचंद्र'में से उद्धृत रत्न]

एक समय में असंख्यात योजन चलनेवाला अश्व यह मन है। इसे थकाना बहुत दुष्कर है। इसकी गति चपल और पकड़ में न आ सकनेवाली है। महा ज्ञानियों ने ज्ञानरूपी लगाम से इसे स्तंभित करके सब पर विजय प्राप्त की है। (शिक्षापाठ : ६८; १७ वाँ वर्ष)



ज्ञानी अंतरंग खेद और हर्ष से रहित होते हैं।

(वचनामृत : ५८; २ वाँ वर्ष)



सत्पुरुष कहते नहीं, करते नहीं, फिर भी उनकी सत्पुरुषता निर्विकार मुखमुद्रा में निहित है। (वचनामृत : १२२; २० वाँ वर्ष)



मेरे प्रति मोहदशा न रखे, मैं तो एक अल्पशक्तिवाला पामर मनुष्य हूँ। सृष्टि में अनेक सत्पुरुष गुप्तरूप में मौजूद हैं। प्रगटरूप में भी मौजूद हैं। उनके गुणों का स्मरण करे। उनका पवित्र समागम करे और आत्मिक लाभ से मनुष्यभव को सार्थक करे यह मेरी निरंतर प्रार्थना है। (पत्रांक : ४३; २२ वाँ वर्ष)



समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ़ होते हुए भी उसका त्याग करके, करपात्र में भिक्षा माँगकर (- निर्दोष आहार ग्रहण कर) जीनेवाले संत के चरणों को अनंतानंत प्रेम से पूजते हैं, और वे अवश्यमेव

छूटते हैं।

(पत्रांक : १७६; २४ वाँ वर्ष)



सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्ति के वश है, इसका जिन्होंने हृदय में अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियों की गुप्त शिक्षा है। (पत्रांक - २०१; २४ वाँ वर्ष)



ज्ञानी को सर्वत्र मोक्ष है, यह बात यद्यपि यथार्थ है, तो भी जहाँ मायापूर्वक परमात्मा का दर्शन है ऐसे जगत में विचारकर पैर रखने जैसा उन्हें भी कुछ लगता है। (पत्रांक : २०५; २४ वाँ वर्ष)



'लाचार होकर' करना चाहिए, और वह भी प्रारब्धवशात् निःस्पृह बुद्धि से, ऐसे व्यवहार को योग्य व्यवहार मानिये।

(पत्रांक : २३२; २४ वाँ वर्ष)



वह सत्य सुधा दरशावहिंगे, चतुरांगुल हे दृगसे मिलहे।

रस देव निरंजन को पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो

जीवही।७।।

पर प्रेम प्रवाह बड़े प्रभुसैं, सब आगमभेद सुउर बसैं।

वह केवलको बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाई

दिये।।८।।

(पत्रांक : २६५; २४ वाँ वर्ष)



उसमें (- उपाधिप्रसंग में) तो अत्यंत उदास परिणाम हो जानेसे क्षणभर के लिये भी चित्त स्थिर नहीं रह सकता; जिससे ज्ञानी सर्वसंगपरित्याग करके अप्रतिबद्धरूप से विचरण करते हैं।

(पत्रांक : ३३४; २५ वाँ वर्ष)



जिसे बोधबीज की उत्पत्ति होती है उसे स्वरूपसुख से परितृप्तता रहती है, और विषय के प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवन में क्षणिकता है, उस जीवन में ज्ञानियों ने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरज की बात है।

यदि जीव को परितृप्तता न रहा करती हो तो उसे अखण्ड आत्मबोध नहीं है ऐसा समझें। (पत्रांक : ३६०; २५ वाँ वर्ष)



जिसे सच्चा आत्मभान होता है उसे, मैं अन्य भाव का अकर्ता हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है और उसकी अहंप्रत्ययीबुद्धि विलीन हो जाती है। (पत्रांक : ३६२; २५ वाँ वर्ष)



ज्ञानी अपना उपजीवन - आजीविका भी पूर्वकर्मानुसार करते हैं; ज्ञान में प्रतिबद्धता हो, इस तरह आजीविका नहीं करते, अथवा इस तरह आजीविका कराने के प्रसंग को नहीं चाहते।

(पत्रांक : ३६८; २५ वाँ वर्ष)



पारमार्थिक वैभव से ज्ञानी मुमुक्षु को सांसारिक फल देना नहीं चाहते; क्योंकि यह अकर्तव्य है - ऐसा ज्ञानी नहीं करते)

(पत्रांक : ३७४; २५ वाँ वर्ष)



वास्तविकता तो यह है कि जिस काल में ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हुआ उसी काल में ज्ञानी मुक्त है। देहादि में अप्रतिबद्ध है। सुख दुःख हर्ष शोकादि में अप्रतिबद्ध है। ऐसे ज्ञानि को कोई आश्रय या आलंबन नहीं है। (पत्रांक : ३७७; २५ वाँ वर्ष)



निराश्रय ज्ञानी को तो सभी समान है अथवा ज्ञानी सहज परिणामी है, सहजस्वरूपी है, सहजरूप से स्थित है, सहजरूप से प्राप्त उदय

को भोगते हैं। सहजरूप से जो कुछ होता है, वह होता है; जो नहीं होता वह नहीं होता है। वे कर्तव्यरहित हैं, उनका कर्तव्यभाव विलीन हो चुका है। (पत्रांक : ३७७; २५ वाँ वर्ष)



'जगत जिस में सोता है, उसमें ज्ञानी जागते हैं, जिसमें ज्ञानी जागते हैं उसमें जगत सोता है। जिसमें जगत जागता है, उसमें ज्ञानी सोते हैं।' (पत्रांक : ३८८; २५ वाँ वर्ष)



जिस जिस काल में जो जो प्रारब्ध उदय में आता है उसे भोगना, यही ज्ञानीपुरुषों का सनातन आचरण है।

(पत्रांक : ४०८; २५ वाँ वर्ष)



मान लें कि चरमशरीरीपन इस काल में नहीं है, तथापि अशरीरीभाव से आत्मस्थिति है तो वह भावनय से चरमशरीरीपन नहीं, अपितु सिद्धत्व है; और यह अशरीरीभाव इस काल में नहीं है ऐसा यहाँ कहे तो इस काल में हम खुद नहीं हैं, ऐसा कहने तुल्य है।

(पत्रांक : ४११; २५ वाँ वर्ष)



लोकव्यापक अंधकार में स्वयंप्रकाशित ज्ञानीपुरुष ही यथातथ्य देखते हैं। (पत्रांक : ४१३; २५ वाँ वर्ष)



इस जगत के लोग सर्प की पूजा करते हैं, वे वस्तुतः पूज्यबुद्धि से पूजा नहीं करते, परंतु भय से पूजा करते हैं, भाव से पूजा नहीं करते; और इष्टदेव की पूजा लोग अत्यंत भाव से करते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव इस संसार का सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वकाल में निबंधन किये हुए प्रारब्ध कर्म से दिखाई देता है। वस्तुतः भाव से इस संसार में उसका प्रतिबंध संगत नहीं

है, पूर्वकर्म के उदयरूप भय से संगत होता है। जितने अंश में भावप्रतिबंध न हो उतने अंश में ही सम्यग्दृष्टिपन (- साधकपना) उस जीव को होता है। (पत्रांक : ४५९; २६ वाँ वर्ष)



जिस वस्तु का माहात्म्य दृष्टिमें से चला गया उस वस्तु के लिए अत्यंत क्लेश नहीं होता। संसार में भ्रांति से जाना हुआ सुख परमार्थज्ञान से भ्रांति ही भासित होता है, और जिसे भ्रांति भासित हुई है उसे फिर उसका माहात्म्य क्या लगेगा ? ऐसी माहात्म्यदृष्टि परमार्थज्ञानीपुरुष के निश्चयवाले जीव को होती है।

(पत्रांक : ४५९; २६ वाँ वर्ष)



इतनी बात का निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानीपुरुष को भी प्रारब्धकर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं होते, और बिना भोगे निवृत्त होने की ज्ञानी को कोई इच्छा नहीं होती। ज्ञानी के सिवाय दूसरे जीवों को भी कितने ही कर्म हैं कि जो भोगनेपर ही निवृत्त होते हैं, अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते हैं। तथापि भेद इतना है कि ज्ञानी की प्रवृत्ति मात्र पूर्वोपार्जित कारण से होती है, और दूसरों की प्रवृत्ति में भावी संसार का हेतु है; इसलिए ज्ञानी का प्रारब्ध भिन्न होता है। इस प्रारब्ध का ऐसा निर्धार नहीं है कि वह निवृत्तिरूप से ही उदय में आये। (पत्रांक : ४८७; २७ वाँ वर्ष)



कितनी ही प्रारब्धस्थिति ऐसी है कि जो ज्ञानीपुरुष के विषय में उसके स्वरूप के लिए जीवों को संदेह का हेतु हो; और इसीलिए ज्ञानीपुरुष प्रायः जड़मौनदशा रखकर अपने ज्ञानित्व को अस्पष्ट रखते हैं। तथापि प्रारब्धवशात् वह दशा किसी के स्पष्ट जानने में आये, तो फिर उसे उस ज्ञानीपुरुष का विचित्र प्रारब्ध संदेह का कारण नहीं होता। (पत्रांक : ४८७; २७ वाँ वर्ष)

ज्ञानीपुरुष को काया में आत्मबुद्धि नहीं होती, और आत्मा में कायाबुद्धि नहीं होती, उनके ज्ञान में दोनों ही स्पष्ट भिन्न प्रतीत होते हैं। मात्र जैसे पत्थर को सूर्य के ताप का संबंध रहता है, वैसे पूर्व संबंध होनेसे वेदनीय कर्म का, आयु-पूर्णता तक अविषमभाव से वेदन होता है; परंतु वह वेदन करते हुए जीव के स्वरूपज्ञान का भंग नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उस जीव को वैसा स्वरूपज्ञान होना संभव नहीं है। आत्मज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्म का नाश ही हो जाये, ऐसा नियम नहीं है; वह अपनी स्थिति से नष्ट होता है। फिर वह कर्म ज्ञान को आवरण करनेवाला नहीं है, अव्याबाधत्व को आवरणरूप है, अथवा तब तक संपूर्ण अव्याबाधत्व प्रगट नहीं होता; परंतु संपूर्ण ज्ञान के साथ उसका विरोध नहीं है। संपूर्ण ज्ञानी को आत्मा अव्याबाध है, ऐसा निजरूप का अनुभव रहता है। तथापि संबंधरूप से देखते हुए उसका अव्याबाधत्व वेदनीय कर्म से अमुकभाव से रुका हुआ है। यद्यपि उस कर्म में ज्ञानी को आत्मबुद्धि नहीं होनेसे अव्याबाध गुण को भी मात्र संबंध का आवरण है, साक्षात् आवरण नहीं है।

वेदना का वेदन करते हुए जीव को कुछ भी विषमभाव होना, यह अज्ञान का लक्षण है; परंतु वेदना है, यह अज्ञान का लक्षण नहीं है, पूर्वोपार्जित अज्ञान का फल है। वर्तमान में वह मात्र प्रारब्धरूप है, उसका वेदन करते हुए ज्ञानी को अविषमता रहती है, अर्थात् जीव और काया अलग हैं, ऐसा जो ज्ञानीपुरुष का ज्ञानयोग वह अबाध ही रहता है। मात्र विषमभावरहितपन है, यह प्रकार ज्ञान को अव्याबाध है। जो विषमभाव है वह ज्ञान को बाधाकारक है। देह में देहबुद्धि और आत्मा में आत्मबुद्धि, देह से उदासीनता और आत्मा में स्थिति है, ऐसे ज्ञानीपुरुष को वेदना का उदय प्रारब्ध के वेदनरूप है, नये कर्म का हेतु नहीं है। (पत्रांक : ५०९; २७ वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुषों को समय-समय में अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, यह सत्य है। वह संयम, विचार की तीक्ष्ण परिणति से ब्रह्मरस के प्रति स्थिरता होने से उत्पन्न होता है।

(पत्रांक : ५४९; २८ वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुष को आत्मप्रतिबंधरूप से संसार सेवा नहीं होती परंतु प्रारब्धप्रतिबंधरूप से होती है। ऐसा होनेपर भी उससे निवृत्तिरूप परिणाम को प्राप्त करे, ऐसी ज्ञानी की रीति होती है।

(पत्रांक : ५६०; २८ वाँ वर्ष)



जिस प्रारब्ध को भोगे बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानी को भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंत तक आत्मर्थ का त्याग करना नहीं चाहते, इतनी भिन्नता ज्ञानी में होती है, ऐसा जो महापुरुषों ने कहा है वह सत्य है।

(पत्रांक : ५६२; २८ वाँ वर्ष)



सर्व विभाव से उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्याय का सहजरूप से आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेन्द्र ने तीव्र ज्ञानदशा कही है। जिस दशा के आये बिना कोई भी जीव बंधनमुक्त नहीं होता, ऐसा सिद्धांत श्री जिनेन्द्र ने प्रतिपादित किया है, जो अखण्ड सत्य है।

(पत्रांक : ५७२; २८ वाँ वर्ष)



जिन पुरुषों ने वस्त्र जैसे शरीर से भिन्न है, वैसे आत्मा से शरीर भिन्न है, ऐसा देखा है, वे पुरुष धन्य हैं।

दूसरे की वस्तु का अपने से ग्रहण हुआ हो, जब यह मालूम हो कि वह दूसरे की है, तब उसे दे देने का ही कार्य महात्मा पुरुष करते हैं।

(पत्रांक : ५९२; २८ वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुष को जो सुख रहता है, वह निजस्वभाव में स्थिति का रहता है। बाह्य पदार्थ में उन्हें सुखबुद्धि नहीं होती, इसलिये उस उस पदार्थ से ज्ञानी को सुखदुःखादि की विशेषता या न्यूनता नहीं कही जा सकती। यद्यपि सामान्यरूप से शरीर के स्वास्थ्यादि से साता और ज्वरादि से असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होती है, तथापि ज्ञानी के लिये वह-वह प्रसंग हर्षविषाद का हेतु नहीं होता, अथवा ज्ञान के तारतम्य में यदि न्यूनता हो तो उससे कुछ हर्षविषाद होता है, तथापि सर्वथा अजागृतता को पाने योग्य ऐसा हर्षविषाद नहीं होता। उदयबल से कुछ वैसा परिणाम होता है, तो भी विचारजागृति के कारण उस उदय को क्षीण करने के प्रति ज्ञानीपुरुष का परिणाम रहता है।

ज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, ऐसा कुछ नियम नहीं है। पूर्वनिष्पन्न शुभाशुभ कर्म के अनुसार दोनों को उदय रहता है। ज्ञानी उदय में सम रहते हैं; अज्ञानी हर्षविषाद को प्राप्त होता है।

(पत्रांक : ६०३; २८ वाँ वर्ष)



सहजस्वरूप से जीव की स्थिति होना, इसे श्री वीतराग 'मोक्ष' कहते हैं।

जीव सहजरूप से रहित नहीं है, परंतु उस सहजस्वरूप का जीव को मात्र भान नहीं है, जो भान होना, वही सहजस्वरूप से स्थिति है।

(पत्रांक : ६०९; २८ वाँ वर्ष)



सत्य का ज्ञान होनेके बाद मिथ्याप्रवृत्ति दूर न हो ऐसा नहीं होता। क्योंकि जितने अंश में सत्य का ज्ञान हो उतने अंश में मिथ्याभावप्रवृत्ति दूर हो, ऐसा जिनेन्द्र का निश्चय है। कभी पूर्व प्रारब्ध से बाह्य प्रवृत्ति का उदय रहता हो तो भी मिथ्या प्रवृत्ति में तादात्म्य न हो, यह ज्ञान का लक्षण है और नित्यप्रति मिथ्या प्रवृत्ति परिक्षीण

हो, यही सत्य ज्ञान की प्रतीति का फल है। मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो, तो सत्य का ज्ञान भी संभव नहीं है।

(पत्रांक : ६१०; २८ वाँ वर्ष)



दृश्य को अदृश्य किया, और अदृश्य को दृश्य किया ऐसा ज्ञानीपुरुषों का आश्चर्यकारक अनंत ऐश्वर्यवीर्य वाणी से कहा जा सकने योग्य नहीं है।

(पत्रांक : ६४८; २८ वाँ वर्ष)



जिस जिसने समझा उस उसने मेरा तेरा इत्यादि अहंत्व, ममत्व शांत कर दिया; क्योंकि कोई भी निज स्वभाव वैसा देखा नहीं; और निज स्वभाव तो अचिंत्य, अब्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न देखा, इसलिये उसीमें समाविष्ट हो गया।

(पत्रांक : ६५१; २९ वाँ वर्ष)



प्रारब्ध है, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करते हैं, ऐसा मालूम नहीं होता; परंतु परिणति से छूट जाने पर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखायी देते हैं, तथापि वे उसकी निवृत्ति के लक्ष्य का नित्य सेवन करते हैं।

(पत्रांक : ६६४; २९ वाँ वर्ष)



उत्कृष्ट संपत्ति के स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदय से वास हुआ तो भी अमूर्च्छितरूप से और उदासीनता से उसे प्रारब्धोदय समझकर आचरण किया है, और त्याग का लक्ष्य रखा है।

(पत्रांक : ६६६; २९ वाँ वर्ष)



वह (आत्मा के लिये वस्तुतः उपकारभूत ऐसा) उपदेश जिज्ञासु जीवमें परिणमित हो ऐसे संयोगों में वह जिज्ञासु जीव न रहता हो,

अथवा उस उपदेश के विस्तार से करनेपर भी उसमें उसे ग्रहण करने की तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानीपुरुष उन जीवों को उपदेश करने में संक्षेप से भी प्रवृत्ति करते हैं। अथवा अपने को बाह्य व्यवहार का ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीव में परिणमित होने में प्रतिबंधरूप हो, अथवा तथारूप कारण के बिना वैसा वर्तन कर मुख्यमार्ग के विरोधरूप या संशय के हेतुरूप होनेका कारण होता हो तो भी ज्ञानीपुरुष उपदेश में संक्षेप से प्रवृत्ति करते हैं अथवा मौन रहते हैं।

(पत्रांक : ६७७; २९ वाँ वर्ष)



क्षण में हर्ष और क्षण में शोक हो आये ऐसे इस व्यवहार में जो ज्ञानीपुरुष समदशा से रहते हैं, उन्हें अत्यंत भक्ति से धन्य कहते हैं; और सर्व मुमुक्षुजीवों को इसी दशा की उपासना करना योग्य है, ऐसा निश्चय देखकर परिणति करना योग्य है।

(पत्रांक : ६७८; २९ वाँ वर्ष)



ज्ञानी की वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थ का निरूपण करनेवाली होती है, और अनुभव सहित होनेसे आत्मा को सतत जाग्रत करनेवाली होती है। शुष्कज्ञानी की वाणी में तथारूप गुण नहीं होते। सर्व से उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधता है, वह शुष्कज्ञानी की वाणी में नहीं हो सकता, क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थदर्शन नहीं होता; और इस कारण से जगह जगह उसकी वाणी कल्पना से युक्त होती है।

(पत्रांक : ६७९; २९ वाँ वर्ष)



अहो ! ज्ञानीपुरुष की आशय-गंभीरता, धीरज और उपशम ! अहो ! अहो ! वारंवार अहो !

(पत्रांक : ६९७; २९ वाँ वर्ष)



जेम आवी प्रतीति जीवनी रे,

जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग, मूल०
 तेवो स्थिर स्वभाव ते ऊपजे रे,
 नाम चारित्र ते अणलिंग, मूल० ॥८॥
 (मूल मारग सांभलो जिननो रे, करी वृत्ति अखण्ड सन्मुख)
 (पत्रांक : ७१५; २९ वाँ वर्ष)



वर्ते निज स्वभावनो अनुभव लक्ष प्रतीत।
 वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थ समकित॥१११॥
 छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म।
 नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म॥११५॥
 मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।
 ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रांत॥१३९॥
 सकल जगत ते एठवत् , अथवा स्वप्न समान।
 ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान॥१४०॥ (आत्म-सिद्धि)



बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
 वंदे चक्री तथापि न मले मान जो;
 देह जाय पण माया थाय न रोममां,
 लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो॥ अपूर्व० / ८॥
 नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता,
 अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
 केश, रोम, नखके अंगे श्रृंगार नहीं,
 द्रव्यभाव संयममय, निर्ग्रथ सिद्ध जो॥अपूर्व० / ९॥
 शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
 मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
 जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
 भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो॥ अपूर्व० / १०॥

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
 सरस अत्रे नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
 रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
 सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो॥ अपूर्व० / १२॥



परमभक्ति से स्तुति करनेवाले के प्रति भी जिसे राग नहीं है
 और परमद्वेष से उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी जिसे द्वेष नहीं है,
 उस पुरुषरूप भगवान को बारंबार नमस्कार।

(पत्रांक : ७६७; ३० वाँ वर्ष)



असारभूत व्यवहार को सारभूत प्रयोजन की भाँति करने का उदय
 रहने पर भी जो पुरुष उस उदय से क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्म
 में निश्चलता से रहे हैं, उन पुरुषों के भीष्मव्रत का बारंबार स्मरण
 करते हैं।

(पत्रांक : ७८८; ३० वाँ वर्ष)



सत्पुरुष की वाणी विषय और कषाय के अनुमोदन से अथवा
 रागद्वेष के पोषण से रहित होती है। (पत्रांक : ७९३; ३० वाँ वर्ष)

(ज्ञानी धर्मात्मा) आत्मदशा को पाकर निर्द्वन्द्वता से यथाप्रारब्ध विचरते
 हैं।

(पत्रांक : ८१७; ३१ वाँ वर्ष)



अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु
 की भ्रांति है। उसी भ्रांति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य
 निजअनुभवप्रमाणस्वरूप में परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है।
 इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता
 है। सर्व परद्रव्य से वृत्ति को व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधि
 को पाता है।

(पत्रांक : ८३३; ३१ वाँ वर्ष)

(सम्यग्दृष्टि की भावनाः) मेरा चित्त - मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शांत हो जायें कि कोई मृग भी इस शरीर को देखता ही रहे, भय पाकर भाग न जाये !

मेरा चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाये कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिर में खुजली आती हो वह इस शरीर को जड़पदार्थ समझकर खुजली मिटाने के लिये अपना सिर इस शरीर से घिसे !

(पत्रांक : ८५०; ३१ वाँ वर्ष)



जिन्होंने ने बाह्यभ्यंतर असंगता प्राप्त की है ऐसे महात्माओं के संसार का अंत समीप है, ऐसा निःसंदेह ज्ञानी का निश्चय है।

(पत्रांक : ८७३; ३२ वाँ वर्ष)



जिन ज्ञानीपुरुषों का देहाभिमान दूर हुआ है उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, ऐसा है, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परमपुरुष ने उपकारभूत कही है। (पत्रांक : ८९५; ३२ वाँ वर्ष)



तत्त्वप्रतीति से शुद्ध-चैतन्य के प्रति वृत्ति का प्रवाह मुड़ता है। शुद्ध-चैतन्य के अनुभव के लिये चारित्रमोह नष्ट करना योग्य है।

चैतन्य के - ज्ञानीपुरुष के सन्मार्ग की नैष्ठिकता से चारित्र-मोह का प्रलय होता है।

असंगता से परमावगाढ़ अनुभव हो सकता है।

(पत्रांक : ९०१; ३३ वाँ वर्ष)



साता-असाता का उदय अथवा अनुभव प्राप्त होने के मूल कारणों की गवेषणा करनेवाले उन महान पुरुषों को ऐसी विलक्षण सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति उद्भूत होती थी कि साता की अपेक्षा असाता का उदय प्राप्त होने पर और उसमें भी तीव्रता से उस उदय के

प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेषरूप से जाग्रत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय अधिकता से कल्याणकारी माना जाता था।

(पत्रांक : ९१३; ३३ वाँ वर्ष)



सम्यक् प्रकार से वेदना सहन करनेरूप परम धर्म परम पुरुषों ने कहा है।

तीक्ष्ण वेदना का अनुभव करते हुए स्वरूपभ्रंशवृत्ति न हो यही शुद्ध चारित्र का मार्ग है।

उपशम ही जिस ज्ञान का मूल है, उस ज्ञान में तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरारूप भासने योग्य है।

(पत्रांक : ९३९; ३३ वाँ वर्ष)



ज्ञानी जगत को तृणवत् समझते हैं, यह उनके ज्ञान की महिमा समझें।

(उपदेश नोंध : १६)



गृहस्थाश्रम में सत्पुरुष रहते हैं उनका चित्र देखकर विशेष वैराग्य की प्रतीति होती है। योगदशा का चित्र देखकर सारे जगत को वैराग्य की प्रतीति होती है, परंतु गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी त्याग और वैराग्य योगदशा जैसे रहते हैं, यह कैसी अद्भुतदशा है ! योग में जो वैराग्य रहता है वैसा अखण्ड वैराग्य सत्पुरुष गृहस्थाश्रम में रखते हैं। उस अद्भुत वैराग्य को देखकर मुमुक्षु को वैराग्य, भक्ति होने का निमित्त बनता है। लौकिकदृष्टि में वैराग्य, भक्ति नहीं है।

(उपदेश छाया : ९)



ज्ञान तो वह है जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, संसारपर से सचमुच प्रीति घट जाती है, सच्चे को सच्चा जानता है। जिससे आत्म में गुण प्रगट हो वह ज्ञान है। (उपदेश छाया : १२)

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, वह केवलज्ञानी जाने; परंतु स्वयं आत्मा है वह क्यों न जाने ? कहीं आत्मा गाँव नहीं चला गया; अर्थात् समकित हुआ है उसे आत्मा स्वयं जानता है। जिस तरह कोई पदार्थ खानेपर उसका फल होता है, उसी तरह समकित होनेपर, भ्रांति दूर होनेपर, उसका फल स्वयं जानता है। ज्ञान का फल ज्ञान देता ही है। पदार्थ का फल पदार्थ लक्षण के अनुसार देता ही है। आत्मामें से, अंतरमें से कर्म जाने को तैयार हुए हों तो उसकी खबर अपने को क्यों न पड़े ? अर्थात् खबर पड़ती ही है। समकित की दशा छिपी नहीं रहती।

(उपदेश छाया : १४)



सम्यग्दृष्टि पुरुष, अनिवार्य उदय के कारण लोकव्यवहार निर्दोषता एवं लज्जाशीलता से करते हैं। प्रवृत्ति करनी चाहिये, उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा, वैसा होगा ऐसी दृढ़ मान्यता के साथ वे ऊपर-ऊपर से प्रवृत्ति करते हैं।

(व्याख्यानसार - २/३०/१५)



['द्रव्यदृष्टि-प्रकाश'में से उद्धृत रत्न]

मोक्षार्थी अपने क्षणिक - अल्पकालीन भावों का मूल्य नहीं आँकते।
(पत्रांक : १२)



ज्ञानी को जहाँ स्वरूप-निधान प्रगट होता है, वहाँ पर्याय में (- शरीर में नहीं वरन् परिणाम में) यौवन (बल) आ जाता है, निर्भयता और निःशंकता आ जाती है। प्रतिक्षण अबंध स्वरूप प्रगटता जाता है। वर्तमान में पुण्य-भाव हो और उनका फल प्राप्त होवे - ऐसी वांछा ज्ञानी को नहीं है।

(पत्रांक : १७)



अभानदशा में चैतन्यगाँठ कर्मों के संग में कभी इधर लुढ़कती है व कभी उधर, पर भानदशा में ऐसा बोध होता है कि 'अरे ! परिणाम परिणम गया, और 'मैं' यूँ का यूँ ही रहा गया' - ऐसा मैं त्रिकाल नित्य - ध्रुव अद्भुत रत्न हूँ !

(पत्रांक : १७)



स्व में अर्थात् ज्ञान, आनंद आदि गुणों के भण्डार आत्मा में परिणामों को पसारते ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रमपूर्वक आता है। परिणामों के इस प्रकार के प्रसरण में ही यथार्थ ज्ञान-सुखादि का अनुभव उत्पन्न होने लगता है, जिसकी प्रत्यक्षता से पराश्रित आकुलित परिणाम प्रत्यक्ष विषरूप मालूम होने लगते हैं, जो कि सम्यग्दृष्टि साधक व मुनियों को एक समय मात्र के लिये भी नहीं रुचते।

- उक्त मान्यता व तद्रूप अनुभव होने पर अनादि से चला आया दृष्टि का मोह टूटता है। दृष्टि ने जिस स्व अखण्ड स्व आत्मा को लक्ष किया, उसमें एक साथ परिपूर्ण परिणाम का प्रसरण नहीं होता तब तक परिणाम का कुछ अंश अखण्ड के साथ सुखरूप परिणमता है व उस ही परिणाम का कुछ अंश उदय के साथ पराश्रित दुःखरूप परिणमता है। साधक व मुनि के इस प्रकार का पराश्रित परिणमा हुआ राग-अंश उपदेशादिक का कारण होता है। यह राग-अंश चारित्रमोह है, आकुलतामयी है, यह हर समय हेय है, प्रत्यक्ष दुःखरूप है जो कि मुनियों को बिलकुल रुचता नहीं व इसमें उन्हें रस आता नहीं। पुरुषार्थ की निर्बलता से अखण्ड आत्मा की पूरी पकड़ चारित्र-परिणाम में नहीं होने से ऐसा राग-अंश होता है, जिसका निषेध प्रति समय उनकी दृष्टि करती रहती है। एक समय के लिये भी चारित्रमोहस्वरूपी राग-अंश को वह अपना कर्तव्य नहीं समझते, जो कि प्रत्यक्ष दुःखरूप है; अतः बारंबार स्व में स्थित होते हुए, राग-अंश को तोड़ते हुए, वह शुद्ध सिद्धरूप हो जाते हैं।

मुनियों के रागांश निमित्तक उपदेश में उक्त आशय का संकेत होता है। अच्छी होनहारवाले जीव के वह निमित्तरूप पड़ता है, और वह स्वयं भी उपदेशादिक की तरफ से लक्ष हटाता हुआ, उपदेश आदि को मुनियों का कर्तव्य नहीं समझता हुआ, उनकी अस्थिरता का दोष समझता हुआ, उन पर से वृत्ति हटाकर स्वज्ञान की खान में प्रवेश करने लगता है। अरिहंतों के उपदेश में निमित्त उनका राग नहीं है, वरन् कंपन की अस्थिरता है। (पत्रांक : ३२)



दृष्टिदोष हटे बाद मुनियों को उपदेश का राग उनकी अस्थिरता का दोष है, कर्तव्य नहीं; व इस दोष को स्थिरता का प्रयत्न करते-करते वह हटाते जाते हैं, कर्तव्य समझकर रखना नहीं चाहते।

(पत्रांक : ३२)

त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्ध वृत्ति, व देवादिक प्रत्येकी आंशिक बाह्य वृत्ति - तीनों अंशों का - एक ही समय धर्मी को अनुभव होता है, जिसमें मुख्य-गौण का प्रश्न नहीं।



स्व के माप से अन्य का माप किया जाता है। 'में' त्रिकाली ही हूँ इस अनुभव में परिणाम मात्र गौण है चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक। ऐसे धर्मी को कभी परिणाम की मुख्यता नहीं होती। अतः उसे अन्य धर्मी जीव में भी परिणाम की मुख्यता दिखाई नहीं देती। जैसी कि मात्र परिणाम देखनेवाले को प्रवृत्ति की मुख्यता दिखती है।



धर्मी-अधर्मी के भी त्रिकाली व वर्तमान दोनों को एक साथ देखता है। त्रिकाली का अभान होने से अधर्मी को परिणाम मात्र में एकत्व होता है। इसका धर्मी को ज्ञान रहता है।



वृत्ति-अपेक्षा त्रिकाली की मुख्यतावाले धर्मी को सहज ही इस मुख्य-आश्रित वृत्ति की ही मुख्यता रहती है - वर्तती है, चाहे बाह्य अंश में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति हो। (पत्रांक : ३३)



(आत्मिक आनंद के विषय में आपने कहा -) जब एक बार आनंद की घूँट पी ली...तब तो बार-बार वही घूँट पीने के लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणति को रस ही नहीं आयेगा; बार-बार अपनी ओर आनेका ही लक्ष्य रहेगा, दूसरे सब रस उड़ जायेंगे। (तत्त्वचर्चा : २१)



(स्वरूप की) दृष्टि होने पर भी चारित्रगुण की योग्यता ही ऐसी

होनेसे चारित्रगुण पूरा (शुद्ध) नहीं परिणम जाता। श्रद्धागुण का स्वभाव ऐसा है कि एक ही क्षण में द्रव्य में पूरा का पूरा व्याप्त हो जाता है। चारित्रगुण का स्वभाव ऐसा है कि वह क्रम-क्रम से ही पूरा होता है। - ऐसे दोनों गुणों के स्वभाव ही अलग-अलग हैं। ३८.



जब दृष्टि अपने स्वरूप में तादात्म्य होती है तो थोड़े काल तक राग आता तो है; लेकिन राग लँगड़ा हो जाता है, उसको आधार नहीं रहता। ३९.



अपने द्रव्य में दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान (अन्य) सभी बातें (यथार्थपने से) जान लेता है। ४३.



प्रश्न :- चतुर्थ गुणस्थान में (निर्विकल्प) अनुभव कितने समय के अंतराल में होता होगा ?

उत्तर :- ऐसे अनुभव के अंतराल की कोई मर्यादा नहीं है। वह तो यदि विशेष अशुभ में हों तो (सामान्यतया) अंतराल लंबा भी हो जाए, और शुभ में हों तो जल्दी-जल्दी भी अनुभव होवे। किसीको महिने में दस बार भी हो। ५२.



(असाता के उदय में) सम्यग्दृष्टि को दुःख का वेदन होता है; लेकिन अपने स्वभाव की अधिकता के वेदन में उस वेदन की गौणता हो जाती है। ज्ञान में, शांति के वेदन के साथ-साथ दुःख का वेदन आता है; परंतु वह वेदन मुख्य नहीं होता - अपने स्वभाव की ही ज्ञानी को अधिकता रहती है, अपने स्वभाव की अधिकता कभी नहीं छूटती। ५५.



अज्ञानी उत्पाद-व्यय के साथ-साथ चलता जाता है (- पर्याय दृष्टि

होनेसे - परिणाम का उत्पाद-व्यय होनेपर स्वयं का उत्पाद-व्यय अनुभवता है)। परंतु ज्ञानीने नित्य में (- द्रव्य में) अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद-व्यय के साथ नहीं चला जाता, किन्तु उत्पाद-व्यय को जान लेता है। ५७.



प्रश्न :- रामचंद्रजी को सीताजी के लिए लड़ने का भाव आया; परंतु धर्मराज (युधिष्ठिर) को द्रौपदी की साड़ी खींची जानेपर भी बचाने का भाव नहीं आया था, इसका क्या कारण ?

उत्तर :- वह तो परिणामों की योग्यता ही ऐसी भिन्न भिन्न होती है। अनेक प्रकार के कषायभावोंमें से जो होनेवाले हैं, वो होते हैं; उनको करें - छोड़ें क्या ? सम्यग्दृष्टि को परिणाम मात्र से भिन्नता रहती है। 'मैं करनेवाला ही नहीं हूँ - ऐसा रहना ही खास बात है। ७३.



श्रद्धा में त्रिकालीपना आ गया तो विकल्प से भिन्नता हो गई - वही मुक्ति है। चारित्र में मुक्ति हो जायेगी। ७९.



चौथा गुणस्थानवाला जीव द्रव्यलिंग धारता है फिर भी स्थिरता कम है, और पंचम गुणस्थानवाला अशुभ में विशेष हो फिर भी (चौथे गुणस्थानवाले की अपेक्षा उसकी) स्थिरता विशेष है। क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी को शुभभाव में रस अधिक है और बाह्य उपयोग भी अधिक है; जबकि पाँचवें गुणस्थावाला अशुभभाव में अधिक होते हुए भी (उसे) अंतर में ढलन अधिक रहती है। (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी के शुभभाव में अधिक है जब कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अशुभभाव में भी विभावरस कम है। तत्त्वतः मोक्षमार्ग में शुद्धता की कमी-बेशी का नियम विभावरसपर आधारित है, न कि शुभाशुभभाव पर।) ९४.

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाले को वस्तु का अनुभव है और स्थिरता का प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभव में काल क्यों लगता है ?

उत्तर :- चारित्र की पर्याय में इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थ की कमी है; पर्याय की ऐसी योग्यता है, लेकिन दृष्टि में उसकी गौणता है। 'वर्तमान में ही पूर्ण हूँ - इसमें पर्याय की कमती - बढ़ती गौण है। ९५.



चैतन्यदल में - असंख्य प्रदेश में प्रसर जानेसे पर्याय दिखती ही नहीं है; (अर्थात्) ऐसी पर्याय को छोड़कर, ऐसी पर्याय करूँ - ऐसा नहीं होता। (ज्ञानी को) पर्याय में साम्यभाव आ गया। ९९.



(स्वयं के परिणाम बताते हुए कहा -) निर्विकल्प आनंद की तो बात क्या करे !! विकल्प के समय में भी सुख और शांति तो बढ़ती ही रहती है फिर भी, निर्विकल्प आनंद तो इससे भी बहुत ऊँचे दर्जे का (- कोटि का) है; इस आनंदमें से छूटने से तो इतना दुःख ही दुःख होता है कि जैसे बर्फ में पड़ा हुआ बर्फ से छूटकर अग्नि में प्रवेश करे तो जैसा दुःख होता है, वैसा निर्विकल्पमें से निकलनेपर होता है। (- इसीसे) तो निर्विकल्पमें जाने की लगन रहती है। १२३.



ज्ञानी को तो त्रिकाल में ही अपनापन होनेसे (उसे) वांचन-श्रवण-पूजादि में भी अंदर से (शुद्धि की) वृद्धि होती रहती है। १२८.



अपने को तो सुख पीने की अधिकता रहती है, जानने की नहीं। और खरेखर तो विकल्प से जो जानते हैं सो तो सच्चा जानना ही नहीं है; अंदर में अभेदता से जो सहज जानना होता है वही सच्चा ज्ञान है। परसत्तावलंबी ज्ञान तो हेय कहा है न ! शिवभूतिमुनि

विशेष जानते नहीं थे फिर भी अंदर में सुख पीते-पीते उनको केवलज्ञान हो गया। १४६.



(शास्त्र में) मुनि के लिए ऐसा कहा है कि अन्य मुनि बीमार हो तो वैयावृत्य करना। - वह तो विकल्प होवे तो ऐसा होवे, उसकी बात है। 'अपने में एकाग्र हो' तो प्रथम तो वही कर्तव्य है 'विकल्प' कर्तव्य नहीं। १५५.



शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि बिना, शास्त्र में जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है ? - वह समझ में नहीं आता। और दृष्टि होनेपर ज्ञान में सहज ही सब बातें समझ में आ आती हैं। १६६.



ज्ञानी को भी क्षणिक विकल्प उठते हैं, लेकिन पूर्व की (अज्ञानदशा की) माफिक (विकल्प में) अनंत जोर नहीं है। विकल्प उठते हैं, किन्तु पछाड़ खाकर खत्म हो जाते हैं। १९४.



(परिणति में) सहज सुख का अनुभव (राग के) साथ-साथ वर्तता ही है, इसलिए ज्ञानी हर्षभाव को भी प्रत्यक्ष दुःखरूप जानते हैं। परंतु जिन्हें सहज सुख प्रकट नहीं हुआ वे किसके साथ मिलानकर हर्षभाव को दुःखरूप मानेंगे ? १९५.



अज्ञानी को अकेले परिणाम का ही वेदन होता है। परिणाम के साथ ही समूचा अपरिणामी पड़ा है - उसका वेदन नहीं होता। लेकिन अपरिणामी में दृष्टि जमाकर, उसमें तादात्म्य होकर - प्रसरकर - अपनापन होते ही उसी क्षण में अपरिणामी और परिणाम दोनों का एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणाम का वेदन मिथ्यादृष्टि

को ही होता है। ज्ञानी को तो एक साथ दोनों का (- द्रव्य और पर्याय का) अनुभव रहता है। (पर्याय स्वरूपाकार हो जाती है; - ऐसी पर्याय के अनुभव को अर्थात् द्रव्यस्वरूप के अभेदभावरूप अनुभव को द्रव्य का अनुभव कहने में आता है। वास्तव में अनुभव, पर्याय की सीमा का उल्लंघन नहीं करता। २०४.



तुम पंद्रह साल का संबंध कहते हो, लेकिन हमारे तो वर्तमान विकल्प जितना एक ही क्षण का संबंध है,.... यह विकल्प छूटा... कि फिर खलास !

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि) को छियानवे हजार रानियाँ और वैभव आदि होनेपर भी वर्तमान जिस पदार्थ की ओर लक्ष्य जाता है, उस ही का भोक्ता कहलाता है; परंतु अभिप्राय में तो उस पदार्थ का भोक्ता... उसी क्षण खतम हो गया। (ज्ञानीपुरुष को सभी प्रकार के संयोगों से भिन्नता वर्तती है चाहे संयोग लौकिकदृष्टि से कितना ही महत्त्वपूर्ण या पुराना हो किन्तु भिन्नता में एकक्षण में सब खत्म हो जाता है।) २१३.



(तीर्थकर के जन्मोत्सव में) इन्द्र नृत्य करके बाहर में लौकिक अपेक्षा से खुशी मना रहे हों तो भी, उनके अंदर में (परिणति में) जो सहज सुख चलता है उसमें, वह हर्ष-भाव भी सहज ही दुःखरूप लगता है; और यह सहज सुख, उस (हर्ष -) भाव का सहज निषेध करता है; बाहर में तो इन्द्र हर्ष-भाव से खुशी मनाते हैं। २२०.



आचार्य भगवंत तो निरंतर अमृतरस का ही पान करते थे, अमृतरस में ही मग्न रहते थे। जैसे अच्छा भोजन करते समय अपने कुटुंबिकजनों की याद आती है, वैसे आचार्यदेव को करुणा आती है कि भाई ! तुम्हारे पास भी आनंद का दरिया पड़ा है, तुम उसको पीओ...

पीओ ! २३१.



प्रश्न :- सीताजी साधर्मि थी और पत्नी भी थी तो भी रामचंद्रजी ने लौकिकजनों की मुख्यता करके वात्सल्य अनुराग को भी गौण कर दिया - ऐसा कैसे ?

उत्तर :- देखो ! इससे यही सिद्ध हुआ कि धर्मि को वात्सल्य राग ही मुख्य होता है, ऐसा नहीं है। कभी कैसा राग आ जाये ! और कभी क्या (दूसरा) राग आ जाये ! (धर्मात्मा को सदैव वात्सल्य होता है। दूसरे प्रसंग की मुख्यता के समय भी वात्सल्य के अभिप्राय में कोई फर्क नहीं पड़ता। अतः श्री रामचन्द्रजी के वात्सल्य के बारे में सीताजी निःशंक थी। वैसी निःशंकता धर्मि के प्रति रहनी चाहिए।) २६१.



दृष्टि अपने को प्रभु ही देखती है ! कमजोरी से विकल्प आया तो अपनी निंदा - गर्हा भी होती है, मैं पामर हूँ ऐसा भी विकल्प आता है; परंतु यह तो क्षण-पूरता ही विकल्प है, आ गया...तो...आ गया। (किसी ज्ञानी को तो दृष्टिबल विशेष होनेसे निंदा-गर्हादि का विकल्प कम भी आता है) २८४.



दृष्टि में तो 'अपन' प्रभु हैं ! बाहर में अन्य को प्रभुता में आगे बढ़ा देखें तो सहज ही प्रमोदभाव आ जाता है, लेकिन ऐसा भाव भी क्षणपूरता ही आता है, ज्यादा लगाव नहीं होता। २८७.



देव-शास्त्र-गुरु की तरफ के लक्ष्य और वलण में भी भट्टी-सा दुःख लगना चाहिए। (ज्ञानी का) बाहर में उत्साह दिखता है, लेकिन अंदर में भट्टी-सा दुःख लगता है। २९७.



अंतर्दृष्टि जमे...तब ही (वर्तमान पर्याय की) योग्यता का ज्ञान यथार्थ होता है; तभी (जिस काल की जैसी) 'योग्यता' कहने का अधिकार है। ३०४.



बाहर के संग का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी पर्याय के साथ है, मेरे साथ नहीं। लेकिन जिसको पर्याय में ही एकत्वबुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्त के साथ लंबाती है; किन्तु ज्ञानी को पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं है, इसीसे उसकी निमित्त के साथ भी एकत्वबुद्धि नहीं होती है। ३०७.



प्रश्न :- मुनि को वस्त्रादि नहीं होनेसे दुःख नहीं होता होगा ?
उत्तर :- मुनिराज को दुःख कैसा ! उनके तो अंतर में आनंद का स्रोत बहता है; बिजली के करंट की माफिक आनंद चलता है। उनके तो वस्त्र की वृत्ति का उठना ही दुःख है; और जो शुभवृत्ति उठती है वह भी भयंकर दुःखरूप लगती है। (मुनिदशा में छट्टे गुणस्थान में अंतर्आत्मपरिणति बहुत उग्र होती है जिससे वे सहज ही अंतर्मुहूर्त में निर्विकल्प सप्तम गुणस्थान में आ जाते हैं।) ३१२.



प्रश्न :- ज्ञानी को विषयों में आसक्ति नहीं है, इसका मतलब क्या ?

उत्तर :- अन्य मतवाले तो इसको दूसरी तरह से कहते हैं, लेकिन वैसा नहीं है। यथार्थ में तो ज्ञानी को अपने त्रिकाली स्वभाव में ऐसी आसक्ति हो गई है कि अन्य किसी पदार्थ में आसक्ति होती ही नहीं - (वे) स्वभाव में इतने आसक्त हैं। ३१५.



दृष्टि की बात को मुख्य रखकर सब खतौनी करनी चाहिए। इधर (- अंतर में) दृष्टि होनेपर जो ज्ञान हुआ.... वह (ज्ञान) वस्तु

को जैसी है वैसा ही जान लेता है। इस दृष्टि के बिना तो किसी बात में अधिक खिँचा जाता है या किसी बात को ढीला कर देता है। परंतु दृष्टि होने पर ज्ञान (मध्यस्थ हो जाता है, इसीलिए) जिसकी जितनी - जितनी मर्यादा है उसके अनुसार ही जानता है। (स्वरूपदृष्टि में सर्वस्वरूप से स्वरूप की उपादेयता हो जाती है। और परिणमन का ऐसा वलण हो जाने से ज्ञान में अविवेक उत्पन्न नहीं होता जिससे ज्ञान अयथार्थरूप से हीनाधिक तूल नहीं देता। वैसी सम्यक् मर्यादापूर्वक ज्ञान की प्रवृत्ति रहती है।) ३३८.



जिसको अनुभूति हुई हो - वह जीव अनुभव के बल से कौनसी बात सत्य है ? (और जो बात अनुभव से नहीं मिलती वो असत्य है), ऐसा फौरन जान लेता है। ३४१.



इधर (- अंतर) दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। दृष्टि होने पर उत्पन्न हुआ ज्ञान - अपना (पर में) कितना अटकाव है ? अपनी स्वभाव में कितनी जमावट है ? कितना रस है ? - यह सब सहज जान लेता है। ३४२.



जैसे व्यापारी माल देता है और उसके पैसे ग्राहक देता है; दोनों का अपना-अपना कारण है, एक दूसरे के लिए नहीं करते हैं। जैसे ही सुनानेवाले को (ज्ञानी को) अपने कारण से मचक आती है और करुणा से उपदेश का विकल्प आता है; और सुननेवाले को अपने कारण से सुनने का भाव होता है।

जैसे व्यापारी को अन्यत्र पैसे का बड़ा लाभ होनेवाला हो तो वह ग्राहक के लिए नहीं रुकता है। जैसे ही यहाँ भी सुनानेवाले का विकल्प टूट जाए तो वह सुननेवाले के लिए रुकता नहीं है।

प्रश्न :- अनंत ज्ञानियों का एकमत होनेसे ज्ञानी को निःशंकता आ जाती है ?

उत्तर :- अनंत ज्ञानियों का एकमत होनेसे नहीं परंतु अपना सुख पीने से ज्ञानी को निःशंकता आ जाती है। (ज्ञानी की निःशंकता स्वयं के उपादान / अनुभव पर आधारित है, दूसरे निमित्त के आधारित नहीं।) ३५२.



सम्यग्दृष्टि जीव अपने को 'सदा त्रिकाली आत्मा हूँ' ऐसा ही मानते हैं। 'मैं ध्रुव-सिद्ध हूँ - जिसमें सिद्धदशा की भी गौणता रहती है। सिद्ध-दशा का भी समय-समय उत्पाद-व्यय होता है। 'मैं तो सदा ध्रुव हूँ।' ३७३.



निवृत्ति लेकर एकांत में आचार्यों के शास्त्र पढ़ें..... तो उनमें से बहुत (ऊँड़ी) बातें निकलती हैं। उनमें (शास्त्र में) तो बहुत भरा है !! आचार्यों के जो शब्द हैं न ! वे आनंद की बूँद...बूँद हैं। एक-एक शब्द में आनंद की बूँद...बूँद भरी है ! आनंद की बूँद...बूँद टपकती है ! तो हमें रस आता है। ३८३.



त्रिकालीशक्ति में अपनापन होते ही (अन्य) सभी आलंबन उखड़ जाते हैं। ३९६.



मुँह में पानी के साथ कचरा आते ही खदबदाहट होनेसे उसे मुँह से निकाल (फेंक) दिया जाता है। ऐसे ही राग का वेदन तो कचरा है, ज्ञानी उसको अपना नहीं मानते। ज्ञानी को किसी भी क्षण राग में अपनापन आता ही नहीं। ४४९.



ज्ञानी को राग बोझरूप लगता है। भारी चीज के ऊपर हलकी

चीज हो तो बोझा नहीं लगता, लेकिन हलकी चीजपर तो भारी चीज का बोझा लगता ही है। ऐसे ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है, खटकता है, खूँचता (सालता) है। ४५०.



प्रश्न :- उपयोग स्व-सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्प के काल में भासती है क्या ?

उत्तर :- विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भिन्नता का अनुभव है। और उपयोग को क्यों मुख्य करते हो ? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान विकल्प के काल में (धारणा की माफिक) खाली पड़ा हुआ नहीं है, लेकिन परिणमनरूप है। ४५९.



दृष्टि तो हर समय अपने को पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि हम तो पामर हैं, लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति का मुकाबला पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए अपनी पामरता लगती है; इस अपेक्षा से (अपने को पामर) कहते हैं। दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.



प्रश्न :- ज्ञानी को आंशिक शुद्धता का ध्येय नहीं है ?

उत्तर :- आंशिक शुद्धता क्या ? पूर्ण शुद्धता का (- एक समय की भेदरूप अवस्था का) भी ज्ञानी को ध्यान नहीं है। 'मैं तो त्रिकाल शुद्ध ही हूँ।' ४७७.



मुनि के पास कोई शास्त्र हो, और कोई उस शास्त्र को माँगे तो मुनि फौरन दे देते हैं। क्योंकि वे खुद ही तो पराश्रयभाव छोड़ना चाहते हैं। इसीसे दूसरा माँगे तो सहज दे देते हैं। (मुनिदशा में उपकरण के प्रति भी ममत्व नहीं होता है।) ४८२.



ज्ञानी को भगवान की रागवाली भक्ति का प्रेम होता है; लेकिन इधर की (- आत्मा की) भक्ति में जैसा प्रेम है, वैसा वहाँ नहीं होता।

४८३.



रात्रि में निद्रा सहज कम हो जाती है; क्योंकि आराम तो सच्चे स्वरूप में ही है, तो उस तरफ की एकाग्रता में निद्रा तो सहज ही कम हो जाती है।

जिसको सारे दिन इधर-उधर के विकल्पों की थकान बहुत होती है, उसको आराम के लिए निद्रा विशेष आती है। लेकिन जिसको इधर-उधर करने का कर्तृत्व ही छूट गया है; उसे थकान न होने से निद्रा भी कम आती है। जैसे मुनिराजों को अंतर की जागृति के कारण विकल्प की थकान नहीं है, तो निद्रा भी कम है।

मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घंटे नींद नहीं आती है; फिर थोड़ी नींद आ जाये तो जगते ही ऐसा लगता है कि क्या नींद आ गई थी ! पीछे नींद उड़ जाती है और यही (- स्वरूप-घोलन) चलता रहता है। ४८७. (अंगत)



(ज्ञानी को) भक्ति आदि के शुभभाव आवे तब बाहर में तो उल्लसित दिखाई देवे, लेकिन उसी क्षण अभिप्राय निषेध करता है। ४९९.



प्रश्न :- तिर्यच को तो अनुभव का सुख ठीक और राग का दुःख वह अठीक - ऐसा रहता है; उसमें 'त्रिकाली ही मैं हूँ' ऐसा कैसे भासता होगा ?

उत्तर :- त्रिकाली में आये बिना (- त्रिकाली ही मैं हूँ, ऐसे अनुभव बिना) सुख होता ही नहीं.... तो उसमें त्रिकाली स्वभाव का आश्रय आ गया। पर्याय बदलती है तो भी 'मैं' नहीं बदलता - ऐसा भासता है। ५४६.

सम्यग्दृष्टि को एक विकल्प भी फाँसी-सा लगता है; विकसित स्वभाव को फाँसी लगती है। ५७४.



सम्यग्दृष्टि की राग के प्रति पीठ है, (लेकिन) मुख नहीं। 'मैं' तो सदा अंतर्मुख हूँ, 'मेरा' विकल्प के साथ भी संबंध नहीं है; तो दूसरों की तो क्या बात ? आत्मा ही निज वैभव है। ६२४.



श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
०२ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्त्वचर्चा)	३०-००
०३ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०४ दंसणमूलो धम्मो (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
०५ निर्भ्रात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०६ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	
०७ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
०८ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
०९ विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
१० सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
११ तत्वानुशीलन (भाग १-२-३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
१२ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	
१३ ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	
१४ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	
१५ सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
१६ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-५६९, ४९९, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१७ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१८ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
१९ धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	
२० सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६०, ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२५.००

२१ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ और ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
२२ दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ

ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ

મૂલ્ય

૦૧	ગુરુગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૦૨	જિણાસાસણ સવ્યં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૦૩	દાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત)	૦૨-૦૦
૦૪	દ્રવ્યદષ્ટિપ્રકાશ ભાગ-૩ (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૦૫	દસલક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૦૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૦૭	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૦૮	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૦૯	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૧૦	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૧ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૧૧	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૨ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૧૨	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૩ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૧૩	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૪ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૧૪	પ્રવચન પ્રસાદ ભાગ-૧-૨ (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૧૫	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૧૬	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૭	ભગવાન આત્મા (દ્રવ્યદષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૮	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૧૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૨૦	આધ્યાત્મિક પત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૨૧	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	પ્રેસમાં
૨૨	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૨૩	બીજું કાંઈ શોધ મા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૨૪	મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૫	સમ્યક્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભુત છ પદનો અમૃત પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૬	આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૭	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૮	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૨૯	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦ ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૦	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૧	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં 'બહેનશ્રીના વચનામૃત' પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦.૦૦
૩૩	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, ૫૭૨, પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) ('પરમાગમસાર' માંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से
प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकायसंग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलशटीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमागमसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसार (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००

३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००

६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
६७	कहान रत्न सरिता	१५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१०००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३०००

पाठकों के लिये

पाठकों के लिये

पाठकों के लिये